२४. यदाह--'३ बाले बुड्ढे नपुंसे य, जड्डे कीवे य वाहिए।
तेणे रायावगारीय, उम्मत्ते य अंदसणे ।।१।।
दासे दुट्ठे (य) अणत्त जुंगिए इय ।
ओबद्धए य भयए, सेहनिप्फेडिया इय ।।२।।
स्थानांगसूत्रम्, अभयदेवसूरिवृत्ति, (प्रकाशक-- सेठ माणेकलाल, चुन्नीलाल, अहमदाबाद, विक्रम संवत् १९९४) सूत्र ३/२०२, वृत्ति पृ. १५४

२५. से असइं उच्चागोए असंइ णीयागोए ।
णो हीणे णो अइरिते णो पीहए ।।
इतिसंखाय के गोतावादी, के माणावादी, कंसि वा एगे गिज्झे ?
तम्हापंडिते णो हरिसे णो कुज्झे
-आचारांग,(सं. मधुकरमुनि), १/२/३/७५

२६. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, संग्रहकर्त्ता-विजयमूर्ति, लेख क्रमांक ८,३१,४१,५४,६२,६७,६९,

२७अ. आवश्यकचूर्णि, जिनदासगणि, ऋषभदेव केसरीमल संस्था, रतलाम, भाग १,पृ. ५५४

ब. भक्तपरिज्ञा, १२८

स. तित्थोगालिअ, ७७७

२८. आचारांग, सं. मधुकरमुनि, १/२/६/१०२

जैन धर्म में नारी की भूमिका

भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं में श्रमण परम्परा विवेक प्रधान एवं क्रान्तिधर्मी रही है । उसने सदैव ही विषमतावादी और वर्गवादी अवधारणाओं के स्थान पर समतावादी जीवन मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया है । जैन धर्म भी श्रमण परम्परा का ही एक अंग है अत: उसमें भी नर एवं नारी की समता पर बल दिया गया और स्त्री के दासी या भोग्या स्वरूप को नकार कर उसे पुरुष के समकक्ष ही माना गया है । फिर भी यह सत्य है कि जैन धर्म और संस्कृति का विकास भी भारतीय संस्कृति के पुरुष प्रधान परिवेश में ही हुआ है, फलत: क्रान्तिधर्मी होते हुए भी वह अपनी सहगामी ब्राह्मण परम्परा के व्यापक प्रभाव से अप्रभावित नहीं रह सकी और उसमें भी विभिन्न कालों में नारी की स्थिति में परिवर्तन होते रहे ।

यहाँ हम आगमों और व्याख्या साहित्य के आधार पर जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी की क्या स्थिति रही है इसका मूल्यांकन करेंगे, किन्तु इसके पूर्व हमें इस साहित्य में उपलब्ध सन्दर्भों की प्रकृति को समझ लेना आवश्यक है । जैन आगम साहित्य एक काल की रचना नहीं है । वह ईसा पूर्व पाँचवीं शती से लेकर ईसा की पाँचवी शती तक अर्थात् एक हजार वर्ष की सुदीर्घ कालावधि में निर्मित, परिष्कारित और परिवर्तित होता रहा है अत: उसके समग्र सन्दर्भ एक ही काल के नहीं हैं । पुन: उनमें भी जो कथा भाग है, वह मूलत: अनुश्रुतिपरक और प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्ध रखता है । अत: उनमें अपने काल से भी पूर्व के अनेक तथ्य उपस्थित हैं जो अनुश्रुति से प्राप्त हुए हैं । उनमें कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जिनकी ऐतिहासिकता विवादास्पद हो सकती है और उन्हें मात्र पौराणिक कहा जा सकता है । जहाँ तक आगमिक व्याख्या साहित्य का सम्बन्ध है, वह मुख्यत: आगम ग्रन्थों पर प्राकृत एवं संस्कृत में लिखी गयी टीकाओं पर आधारित है अत: इसकी कालावधि ईसा की ५वीं शती से बारहवीं शती तक है । उसमें भी अपने युग के सन्दर्भों के साथ आगम युग के सन्दर्भ भी मिल गये हैं । इसके अतिरिक्त इन आगमिक व्याख्याओं में कुछ ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं, जिनका मूल स्रोत, न तो आगमों में और न व्याख्याकारों के समकालीन समाज में खोजा जा सकता है, यद्यपि वे आगमिक व्याख्याकारों की मन:प्रसूत कल्पना भी नहीं कहे जा सकते हैं । उदाहरण के रूप में मरुदेवी, ब्राह्मी, सुन्दरी तथा पार्श्वनाथ की परम्परा की अनेक साध्वियों से सम्बन्धित विस्तृत विवरण, जो आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में उपलब्ध हैं, वे या तो आगमों में अनुपलब्ध हैं या मात्र संकेत रूप में उपलब्ध हैं, किन्तु हम यह नहीं मान सकते हैं कि ये आगमिक व्याख्याकारों की मन:प्रसूत कल्पना है। वस्तुत: वे विलुप्त पूर्व साहित्य के ग्रन्थों से या अनुश्रुति से इन व्याख्याकारों को प्राप्त हुए हैं । अत: आगमों और आगमिक व्याख्याओं के आधार पर नारी का चित्रण करते हुए हम यह नहीं कह सकते कि वे केवल आगमिक व्याख्याओं के युग के सन्दर्भ हैं, अपितु उनमें एक ही साथ विभिन्न कालों के सन्दर्भ उपलब्ध हैं । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उन्हें निम्न काल खण्डों में विभाजित किया जा सकता है -

१. **पूर्व युग** - ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक ।
२. **आगम युग** - ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ई० सन् की पाँचवीं शताब्दी तक ।
३. **प्राकृत आगमिक व्याख्या युग** - ईसा की पाँचवी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक ।
४. **संस्कृत आगमिक व्याख्या एवं पौराणिक कथा साहित्य युग** - आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक ।

इसी सन्दर्भ में एक कठिनाई यह भी है कि इन परवर्ती आगमों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के रूप में मान्य ग्रन्थों तथा प्राकृत एवं संस्कृत आगमिक व्याख्याओं का काल लगभग एक सहस्राब्दी अर्थात् ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा की बारहवीं शताब्दी तक व्याप्त है। पुन: कालविशेष में भी जैन विचारकों का नारी के सन्दर्भ में समान दृष्टिकोण नहीं है। प्रथम तो उत्तर और दक्षिण भारत की सामाजिक परिस्थिति की भिन्नता के कारण और दूसरे श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं के भेद के कारण इस युग के जैन आचार्यों का दृष्टिकोण नारी के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न रहा है। जहाँ उत्तर भारत के यापनीय एवं श्वेताम्बर जैन आचार्य नारी के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण रखते हैं, वहीं दक्षिण भारत के दिगम्बर जैन आचार्यों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अनुदार प्रतीत होता है। इसके लिए अचेलता का आग्रह और देशकालगत परिस्थितियाँ दोनों ही उत्तरदायी रही हैं, अत: आगमिक व्याख्या साहित्य के आधार पर नारी की स्थिति का चित्रण करते समय हमें बहुत ही सावधानीपूर्वक तथ्यों का विश्लेषण करना होगा। पुन: आगमिक व्याख्या साहित्य और जैन पौराणिक कथा साहित्य दोनों में ही नारी सम्बन्ध में जो सन्दर्भ उपलब्ध हैं, वे सब जैन आचार्यों द्वारा अनुशंसित थे, यह मान लेना भी भ्रान्त धारणा होगी। जैन आचार्यों ने अनेक ऐसे तथ्यों को भी प्रस्तुत किया है जो यद्यपि उस युग में प्रचलित रहे हैं, किन्तु वे जैन धर्म की धार्मिक मान्यताओं के विरोधी हैं। उदाहरण के रूप में बहु-विवाह प्रथा, वेश्यावृत्ति, सतीप्रथा, स्त्री के द्वारा मांस भक्षण एवं मद्यपान आदि के उल्लेख हमें आगमों एवं आगमिक व्याख्या साहित्य में उपलब्ध होते हैं, किन्तु वे जैनधर्मसम्मत थे, यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: इस साहित्य में लौकिक एवं धार्मिक दोनों ही प्रकार के सन्दर्भ हैं जिन्हें अलग-अलग रूपों में समझना आवश्यक है।

अत: नारी के सम्बन्ध में जो विवरण हमें आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य में उपलब्ध होते हैं, उन्हें विभिन्न काल खण्डों में विभाजित करके और उनके परम्परासम्मत और लौकिक स्वरूप का विश्लेषण करके ही विचार करना होगा। तथापि उनके गम्भीर विश्लेषण से हमें जैनधर्म में और भारतीय समाज में विभिन्न कालों में नारी की क्या स्थिति थी, इसका एक ऐतिहासिक परिचय प्राप्त हो जाता है।

नारी लक्षण

नारी की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति की चर्चा के पूर्व हमें यह भी विचार कर लेना है कि आगमिक व्याख्याकारों की दृष्टि में नारी शब्द का तात्पर्य क्या रहा है। सर्वप्रथम सूत्रकृतांग निर्युक्ति और चूर्णि में नारी शब्द के तात्पर्य को स्पष्ट किया गया है। स्त्री को द्रव्य स्त्री और भावस्त्री ऐसे दो विभागों में वर्गीकृत किया गया है।[१] द्रव्य-स्त्री से जैनाचार्यों का तात्पर्य स्त्री की शारीरिक संरचना (शारीरिक चिह्न) से है, जबकि भाव-स्त्री का तात्पर्य नारी स्वभाव (भेद) से है। आगम और आगमिक व्याख्याओं दोनों में ही स्त्री-पुरुष के वर्गीकरण का आधार लिंग और वेद माने जाते रहे हैं। जैन परम्परा में स्त्री की शारीरिक संरचना को लिंग कहा गया है। रोमरहित मुख, स्तन, योनि, गर्भाशय आदि से युक्त शारीरिक संरचना स्त्रीलिंग है, यही द्रव्य-स्त्री है, जबकि पुरुष के साथ सहवास की कामना को अर्थात् स्त्रीयोचित काम-वासना को वेद कहा गया है। वही वासना की वृत्ति भाव-स्त्री है।[२] जैन आगमिक व्याख्या साहित्य में स्त्री की काम-वासना के स्वरूप को चित्रित करते हुए उसे उपलअग्निवत् बताया गया है। जिस प्रकार उपल-अग्नि के प्रज्वलित होने में समय लगता है किन्तु प्रज्वलित होने पर चालना करने पर बढ़ती जाती है, अधिक काल तक स्थायी रहती है उसी प्रकार स्त्री की काम-वासना जागृत होने में समय लगता है, किन्तु जागृत होने पर चालना करने से बढ़ती जाती है और अधिक स्थायी होती है।[३] जैनाचार्यों का यह कथन एक मनोवैज्ञानिक सत्य लिए हुए है। यद्यपि लिंग और वेद अर्थात् शारीरिक संरचना और तत्सम्बन्धी कामवासना सहगामी माने गये हैं, फिर भी सामान्यतया जहाँ लिंग शरीर पर्यन्त रहता है, वहाँ वेद (कामवासना) आध्यात्मिक विकास की एक विशेष अवस्था में समाप्त हो जाता है।[४] जैन कर्मसिद्धान्त में लिंग का कारण नामकर्म (शारीरिक संरचना के कारक तत्त्व) और वेद का कारण मोहनीयकर्म (मनोवृत्तियाँ) माना गया है।[५] इस प्रकार लिंग, शारीरिक संरचना का और वेद मनोवैज्ञानिक स्वभाव और वासना का सूचक है तथा शारीरिक परिवर्तन से लिंग में और मनोभावों के परिवर्तन से वेद में परिवर्तन सम्भव है। निशीथचूर्णि (गाथा ३५९) के अनुसार लिंग परिवर्तन से वेद (वासना) में भी परिवर्तन हो जाता है इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण कथा द्रष्टव्य है। जिसमें शारीरिक संरचना और स्वभाव की दृष्टि से स्त्रीत्व हो, उसे ही स्त्री कहा जाता है। सूत्रकृतांग निर्युक्ति में स्त्रीत्व के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रजनन, कर्म, भोग, गुण और भाव ये दस निक्षेप या आधार माने गये हैं, अर्थात् किसी वस्तु के स्त्री कहे जाने के लिए उसे निम्न या एकाधिक लक्षणों से युक्त होना आवश्यक है,

यथा -

(१) स्त्रीवाचक नाम से युक्त होना जैसे - रमा, श्यामा आदि।

(२) स्त्री रूप में स्थापित होना जैसे - शीतला आदि की स्त्री आकृति से युक्त या रहित प्रतिमा।

(३) द्रव्य - अर्थात् शारीरिक संरचना का स्त्री रूप होना।

(४) क्षेत्र - देश-विदेश की परम्परानुसार स्त्री की वेशभूषा से युक्त होने पर उस देश में उसे स्त्रीरूप में समझा जाता है।

(५) काल- जिसने भूत, भविष्य या वर्तमान में से किसी भी काल में स्त्री-पर्याय धारण की हो, उसे उस काल की अपेक्षा से स्त्री कहा जा सकता है।

(६) प्रजनन क्षमता से युक्त होना।

(७) स्त्रियोचित कार्य करना।

(८) स्त्री रूप में भोगी जाने में समर्थ होना।

(९) स्त्रियोचित गुण होना और

(१०) स्त्री सम्बन्धी वासना का होना।[६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी-चरित्र का विकृत पक्ष

जैनाचार्यों ने नारी-चरित्र का गम्भीर विश्लेषण किया है । नारी-स्वभाव का चित्रण करते हुए सर्वप्रथम जैनागमग्रन्थ तन्दुलवैचारिक प्रकीर्णक में नारी की स्वभावगत निम्न ९४ विशेषताऐं वर्णित हैं -[७]

नारी स्वभाव से विषम, मधुर वचन की वल्लरी, कपट-प्रेम रूपी पर्वत, सहस्रों अपराधों का घर, शोक उद्गमस्थली, पुरुष के बल के विनाश का कारण, पुरुषों की वधस्थली अर्थात् उनकी हत्या का कारण, लज्जा-नाशिका, अशिष्टता का पुन्ज, कपट का घर, शत्रुता की खान, शोक की ढेर, मर्यादा की नाशिका, कामराग की आश्रय स्थली, दुराचरणों का आवास, सम्मोह की जननी, ज्ञान का स्खलन करने वाली, शील को विचलित करने वाली, धर्मयाग में बाधा रूप, मोक्षपथ साधकों की शत्रु, ब्रह्मचर्यादि आचार मार्ग का अनुसरण करने वालों के लिए दूषण रूप, कामी की वाटिका, मोक्षपथ की अर्गला, दरिद्रता का घर, विषधर सर्प की भाँति कुपित होने वाली, मदमत्त हाथी की भाँति कामविह्वला, व्याघ्री की भाँति दुष्ट हृदय वाली, ढंके हुए कूप की भाँति अप्रकाशित हृदय वाली, मायावी की भाँति मधुर वचन बोलकर स्वपाश में आबद्ध करने वाली, आचार्य की वाणी के समान अनेक पुरुषों द्वारा एक साथ ग्राह्य, शुष्क कण्डे की अग्नि की भाँति पुरुषों के अन्त: करण में ज्वाला प्रज्वलित करने वाली, विषम पर्वतमार्ग की भाँति असमतल अन्त:-करण वाली, अन्तर्दूषित घाव की भाँति दुर्गन्धित हृदय वाली, कृष्ण सर्प की तरह अविश्वसनीय, संसार (भैरव) के समान मायावी, सन्ध्या की लालिमा की भाँति क्षणिक प्रेम वाली, समुद्र की लहरों की भाँति चंचल स्वभाव वाली, मछलियों की भाँति दुष्परिवर्तनीय स्वभाव वाली, बन्दरों के समान चपल स्वभाव वाली, मृत्यु की भाँति निर्विशेष, काल के समान दयाहीन, वरुण के समान पाशुयक्त अर्थात् पुरुषों को कामपाश में बाँधने वाली, जल के समान अधोगामिनी, कृपण के समान रिक्त हस्त वाली, नरक के समान दारुणत्रासदायिका, गर्दभ के सदृश दुष्टाचार वाली, कुलक्षणयुक्त घोड़े के समान लज्जारहित व्यवहार वाली, बाल स्वभाव के समान चंचल अनुराग वाली, अन्धकारवत् दुष्प्रविश्य, विष-बेल की भाँति संसर्ग वर्जित, भयंकर मकर आदि से युक्त वापी के समान दुष्प्रवेश, साधुजनों की प्रशंसा के अयोग्य, विष-वृक्ष के फल की तरह प्रारम्भ में मधुर किन्तु दारुण अन्तवाली, खाली मुट्ठी से जिस प्रकार बालकों को लुभाया जाता है उसी प्रकार पुरुषों को लुभाने वाली, जिस प्रकार एक पक्षी के द्वारा मांस खण्ड ग्रहण करने पर अन्य पक्षी उसे विविध कष्ट देते हैं उसी प्रकार के दारुण कष्ट स्त्री को ग्रहण करने पर पुरुषों को होते हैं, प्रदीप्त तृणराशि की भाँति ज्वलन स्वभाव को न छोड़ने वाली, घोर पाप के समान दुर्लंघ्य, कूट कार्षापण की भाँति अकालचारिणी, तीव्र क्रोध की भाँति दुर्रक्ष्य, दारुण दुखदायिका, घृणा की पात्र, दुष्टोपचारा, चपला, अविश्वसनीया, एक पुरुष से बंधकर न रहने वाली, यौवनावस्था में कष्ट से रक्षणीय, बाल्यावस्था में दु:ख से पाल्य, उद्वेगशीला, कर्कशा, दारुण वैर का कारण, रूप स्वभाव गर्विता, भुजंग के समान कुटिल गति वाली, दुष्ट घोड़े के पद चिह्न से युक्त महाजंगल की भाँति दुर्गम्य, कुल, स्वजन और मित्रों से विग्रह कराने वाली, परदोष प्रकाशिका, कृतघ्ना, वीर्यनाशिका, शूकरवत् जिस प्रकार शूकर खाद्य-पदार्थ को एकान्त में ले जाकर खाता है उसी प्रकार भोग हेतु पुरुष को एकान्त में ले जाने वाली, अस्थिर स्वभाव वाली, जिस प्रकार अग्निपात्र का मुख आरम्भ में रक्त हो जाता है किन्तु अन्ततोगत्वा काला हो जाता है उसी प्रकार नारी आरम्भ में राग उत्पन्न करती है परन्तु अन्तत: उससे विरक्ति ही उत्पन्न होती है, पुरुषों के मैत्री विनाशादि की जड़, बिना रस्सी की पाग, काष्ठरहित वन की भाँति पाप करके पाश्चात्तप में जलती नहीं है, कुत्सित कार्य में सदैव तत्पर, अधार्मिक कृत्यों की वैतरणी, असाध्य व्याधि, वियोग पर तीव्र दु:खी न होने वाली, रोगरहित उपसर्ग या पीड़ा, रतिमान के लिए मनोभ्रम कारण, शरीर-व्यापी दाह का कारण, बिना बादल बिजली के समान, बिना जल के प्रवाहमान और समुद्रवेग की भाँति नियन्त्रण से परे कही गई है । तन्दुलवैचारिक की वृत्ति में इनमें से अधिकांश गुणों के सम्बन्ध में एक-एक कथा भी दी गई है ।[८]

उत्तराध्ययनचूर्णि[९] में भी स्त्री को समुद्र की तरंग के समान चपल स्वभाव वाली, सन्ध्याकालीन आभा के समान क्षणिक प्रेम वाली और अपना स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर पुरुष का परित्याग कर देने वाली कहा गया है । आवश्यक भाष्य और निशीथचूर्णि में भी नारी के चपल स्वभाव और शिथिल चरित्र का उल्लेख हुआ है ।[१०] निशीथचूर्णि में यह भी कहा गया है कि स्त्रियाँ थोड़े से उपहारों से ही वशीभूत की जा सकती हैं और पुरुषों को विचलित करने में सक्षम होती हैं ।[११] आचारांगचूर्णि एवं वृत्ति में उसे शीतपरिषह कहा गया है अर्थात् अनुकूल लगते हुए भी त्रासदायी होती है ।[१२]

सूत्रकृतांग में कहा गया है कि स्त्रियाँ पापकर्म नहीं करने का वचन देकर भी पुन: अपकार्य में लग जाती हैं ।[१३] इसकी टीका में टीकाकार ने कामशास्त्र का उदाहरण देकर कहा है कि जैसे दर्पण पर पड़ी हुई छाया दुर्ग्राह्य होती है वैसे ही स्त्रियों के हृदय दुर्ग्राह्य होते हैं ।[१४] पर्वत के दुर्गम मार्ग के समान ही उनके हृदय का भाव सहसा ज्ञात नहीं होता । सूत्रकृतांग वृत्ति में नारी चरित्र के विषय में कहा गया है कि अच्छी तरह जीती हुई, प्रसन्न की हुई और अच्छी तरह परिचित अटवी और स्त्री का विश्वास नहीं करना चाहिए । क्या इस समस्त जीवलोक में कोई अंगुलि उठाकर कह सकता है, जिसने स्त्री की कामना करके दु:ख न पाया हो ? उसके स्वभाव के सम्बन्ध में यही कहा गया है कि स्त्रियाँ मन से कुछ सोचती हैं, वचन से कुछ और कहती हैं तथा कर्म से कुछ और करती हैं ।[१५]

स्त्रियों का पुरुषों के प्रति व्यवहार

स्त्रियाँ पुरुषों को अपने जाल में फँसाकर फिर किस प्रकार उसकी दुर्गति करती हैं उसका सुन्दर एवं सजीव चित्रण सूत्रकृतांग और उसकी वृत्ति में उपलब्ध होता है । उस चित्रण का संक्षिप्त रूप निम्न है[१६]-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब वे पुरुष पर अपना अधिकार जमा लेती हैं तो फिर उसके साथ आदेश की भाषा में बात करती हैं। वे पुरुष से बाजार जाकर अच्छे-अच्छे फल, छुरी, भोजन बनाने हेतु ईंधन तथा प्रकाश करने हेतु तेल लाने को कहती हैं। फिर पास बुलाकर महावर आदि से पैर रंगने और शरीर में दर्द होने पर उसे मलने को कहती हैं। फिर आदेश देती हैं कि मेरे कपड़े जीर्ण हो गये हैं, नये कपड़े लाओ तथा भोजन-पेय पदार्थादि लाओ। वह अनुरक्त पुरुष की दुर्बलता जानकर अपने लिए आभूषण, विशेष प्रकार के पुष्प, बाँसुरी तथा चिरयुवा बने रहने के लिए पौष्टिक औषधि की गोली माँगती हैं। तो कभी अगरु, तगर आदि सुगन्धित द्रव्य, अपनी प्रसाधन सामग्री रखने हेतु पेटी, ओष्ठ रंगने हेतु चूर्ण, छाता, जूता आदि माँगती हैं। वह अपने वस्त्रों को रंगवाने का आदेश देती हैं तथा नाक के केशों को उखाड़ने के लिए चिमटी, केशों के लिए कंघी, मुख शुद्धि हेतु दातौन आदि लाने को कहती हैं। पुनः वह अपने प्रियतम से पान, सुपारी, सुई, धागा, मूत्रविसर्जन पात्र, सूप, ऊखल आदि तथा देव-पूजा हेतु ताम्रपात्र और मद्यपान हेतु मद्य-पात्र माँगती हैं। कभी वह अपने बच्चों के खेलने हेतु मिट्टी की गुड़िया, बाजा, झुनझुना, गेंद आदि मंगवाती हैं और गर्भवती होने पर दोहद-पूर्ति के लिए विभिन्न वस्तुएँ लाने का आदेश देती हैं। कभी वह उसे वस्त्र धोने का आदेश देती हैं, कभी रोते हुए बालक को चुप कराने के लिए कहती हैं।

इस प्रकार कामिनियाँ दास की तरह वशवर्ती पुरुषों पर अपनी आज्ञा चलाती हैं। वह उनसे गधे के समान काम करवाती हैं और काम न करने पर झिड़कती हैं, आँखें दिखाती हैं तो कभी झूठी प्रशंसा कर उससे अपना काम निकालती हैं।

यद्यपि नारी-स्वभाव का यह चित्रण वस्तुतः उसके घृणित पक्ष का ही चित्रण करता है किन्तु इसकी आनुभविक सत्यता से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। परन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि नारी के प्रति जैनाचार्यों का दृष्टिकोण अनुदार ही था, उचित नहीं होगा। जैन धर्म मूलतः एक निवृत्तिपरक धर्म रहा है, निवृत्तिपरक होने के कारण उसमें संन्यास और वैराग्य पर विशेष बल दिया गया है। संन्यास और वैराग्य के लिए यह आवश्यक था कि पुरुष के सामने नारी का ऐसा चित्र प्रस्तुत किया जाय जिसके फलस्वरूप उसमें विरक्ति का भाव प्रस्फुटित हो। यही कारण था कि जैनाचार्यों ने आगमों और आगमिक व्याख्याओं और इतर साहित्य में कठोर शब्दों में नारी-चरित्र की निन्दा की, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं रहा कि जैनाचार्यों के सामने नारी-चरित्र का उज्ज्वलतम पक्ष नहीं रहा है। सूत्रकृतांग निर्युक्ति में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है जो शील-प्रध्वंसक चरित्रगत दोष नारी में पाये जाते हैं वे पुरुषों में भी पाये जाते हैं इसलिए वैराग्य मार्ग में प्रवर्तित स्त्रियों को भी पुरुषों से उसी प्रकार बचना चाहिए जिस प्रकार स्त्रियों से पुरुषों को बचने का उपदेश दिया गया है।[१७] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनाचार्यों ने नारी-चरित्र का जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह मात्र पुरुषों में वैराग्य भावना जागृत करने के लिए ही है। भगवती आराधना में भी स्पष्ट रूप से यह कहा गया है -स्त्रियों में जो दोष होते हैं वे दोष नीच पुरुषों में भी होते हैं अथवा मनुष्यों में जो बल और शक्ति से युक्त होते हैं उनमें स्त्रियों से अधिक दोष होते हैं। जैसे अपने शील की रक्षा करने वाले पुरुषों के लिए स्त्रियाँ निन्दनीय हैं, वैसे ही अपने शील की रक्षा करने वाली स्त्रियों के लिए पुरुष निन्दनीय हैं। सब जीव मोह के उदय से कुशील से मलिन होते हैं और वह मोह का उदय स्त्री-पुरुषों में समान रूप से होता है। अतः ऊपर जो स्त्रियों के दोषों का वर्णन किया गया है वह सामान्य स्त्री की दृष्टि से है। शीलवती स्त्रियों में ऊपर कहे हुए दोष कैसे हो सकते हैं ?[१८]

जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी-चरित्र का उज्ज्वल पक्ष

स्त्रियों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है - जो गुणसहित स्त्रियाँ हैं, जिनका यश लोक में फैला हुआ है तथा जो मनुष्य लोक में देवता समान हैं और देवों से पूजनीय हैं, उनकी जितनी प्रशंसा की जाये कम है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, और श्रेष्ठ गणधरों को जन्म देने वाली महिलाएँ श्रेष्ठ देवों और उत्तम पुरुषों के द्वारा पूजनीय होती हैं। कितनी ही महिलाएँ एक-पतिव्रत और कौमार्य ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हैं कितनी ही जीवनपर्यंत वैधव्य का तीव्र दुःख भोगती हैं। ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं जिन्हें देवों के द्वारा सम्मान आदि प्राप्त हुआ तथा जो शील के प्रभाव से शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ थीं। कितनी ही शीलवती स्त्रियाँ महानदी के जल प्रवाह में भी नहीं डूब सकीं और प्रज्वलित घोर आग में भी नहीं जल सकीं तथा सर्प, व्याघ्र आदि भी उनका कुछ नहीं कर सके। कितनी ही स्त्रियाँ सर्वगुणों से सम्पन्न साधुओं और पुरुषों से श्रेष्ठ चरमशरीरी पुरुषों को जन्म देने वाली माताएँ हुई हैं।[१९] अन्तकृद्दशा और उसकी वृत्ति में कृष्ण द्वारा प्रतिदिन अपनी माताओं के पाद-वन्दन हेतु जाने का उल्लेख है।[२०] आवश्यकचूर्णि और कल्पसूत्र टीका में उल्लेख है कि महावीर ने अपनी माता को दुःख न हो, इस हेतु उनके जीवित रहते संसार त्याग नहीं करने का निर्णय अपने गर्भकाल में ले लिया था।[२१] इस प्रकार नारी वासुदेव और तीर्थंकर द्वारा भी पूज्य मानी गयी है। महानिशीथ में कहा गया है कि जो स्त्री भय, लोकलज्जा, कुलांकुश एवं धर्मश्रद्धा के कारण कामाग्नि के वशीभूत नहीं होती है, वह धन्य है, पुण्यवती है, वंदनीय है, दर्शनीय है, वह लक्षणों से युक्त है, वह सर्वकल्याणकारक है, वह सर्वोत्तम मंगल है, (अधिक क्या) वह (तो साक्षात्) श्रुत देवता है, सरस्वती है, अच्युता है........ परम पवित्र सिद्धि, शाश्वत शिवगति है। (महानिशीथ, २/सूत्र २३, पृ० ३६)

जैनधर्म में तीर्थंकर का पद सर्वोच्च माना जाता हैं और श्वेताम्बर परम्परा ने मल्ली कुमारी को तीर्थंकर माना है।[२२] इसिमण्डलत्थू (ऋषिमण्डल स्तवन) में ब्राह्मी, सुन्दरी, चन्दना आदि को वन्दनीय माना गया है।[२३] तीर्थंकरों की अधिष्ठायक देवियों के रूप में चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती, सिद्धायिका आदि देवियों को पूजनीय माना गया है[२४] और उनकी स्तुति में परवर्ती काल में अनेक स्तोत्र रचे गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि यह स्पष्ट है कि जैनधर्म में देवी-पूजा की पद्धति लगभग गुप्त काल में हिन्दू परम्परा के प्रभाव से आई है। उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक की चूर्णि में राजीमति द्वारा मुनि रथनेमि को[२५] तथा आवश्यक चूर्णि में ब्राह्मी और सुन्दरी द्वारा मुनि बाहुबली को प्रतिबोधित करने के उल्लेख हैं[२६]। न केवल भिक्षुणियाँ अपितु गृहस्थ उपासिकाएँ भी पुरुष को सन्मार्ग पर लाने हेतु प्रतिबोधित करती थीं। उत्तराध्ययन में रानी कमलावती राजा इषुकार को सन्मार्ग दिखाती हैं,[२७] इसी प्रकार उपासिका जयन्ती भरी सभा में महावीर से प्रश्न करती है[२८] तो कोशावेश्या अपने आवास में स्थित मुनि को सन्मार्ग दिखाती है,[२९] ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि जैनधर्म में नारी की अवमानना नहीं की गई। चतुर्विध धर्मसंघ में भिक्षुणीसंघ और श्राविकासंघ को स्थान देकर निर्ग्रन्थ परम्परा ने स्त्री और पुरुष की समकक्षता को ही प्रमाणित किया है। पार्श्व और महावीर के द्वारा बिना किसी हिचकिचाहट के भिक्षुणी संघ की स्थापना की गई, जबकि बुद्ध को इस सम्बन्ध में संकोच रहा- यह भी इसी तथ्य का द्योतक है कि जैनसंघ का दृष्टिकोण नारी के प्रति अपेक्षाकृत उदार रहा है।

जैनसंघ में नारी का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि उसमें प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान काल तक सदैव ही भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की और गृहस्थ उपासकों की अपेक्षा उपासिकाओं की संख्या अधिक रही है। समवायांग, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र एवं आवश्यकनिर्युक्ति आदि में प्रत्येक तीर्थंकर की भिक्षुणियों एवं गृहस्थ उपासिकाओं की संख्या उपलब्ध होती है।[३०] इन संख्यासूचक आंकड़ों में ऐतिहासिक सत्यता कितनी है, यह एक अलग प्रश्न है, किन्तु इससे तो फलित होता है कि जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी जैनधर्म संघ का महत्त्वपूर्ण घटक थी। भिक्षुणियों की संख्या सम्बन्धी ऐतिहासिक सत्यता को भी पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता। आज भी जैनसंघ में लगभग नौ हजार दो सौ भिक्षु-भिक्षुणियों में दो हजार तीन सौ भिक्षु और छह हजार नौ सौ भिक्षुणियाँ हैं।[३१] भिक्षुणियों का यह अनुपात उस अनुपात से अधिक ही है जो पार्श्व और महावीर के युग में माना गया है।

धर्मसाधना के क्षेत्र में स्त्री और पुरुष को समकक्षता के प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। सर्वप्रथम उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा आदि आगमों में स्पष्ट रूप से स्त्री और पुरुष दोनों को ही साधना के सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति प्राप्ति के लिए सक्षम माना गया है। उत्तराध्ययन में स्त्रीलिंग सिद्ध का उल्लेख हैं।[३२] ज्ञाता,[३३] अन्तवृद्दशा[३४] एवं आवश्यक चूर्णि में भी अनेक स्त्रियों के मुक्त होने का उल्लेख है। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में आगमिक काल से लेकर वर्तमान तक स्त्री मुक्ति की अवधारणा को स्वीकार कर साधना के क्षेत्र में दोनों को समान स्थान दिया गया है। मात्र इतना ही नहीं यापनीय परम्परा के ग्रन्थ षट्खण्डागम और मूलाचार में भी जो कि दिगम्बरों में भी आगम रूप में मान्यता प्राप्त हैं, स्त्री-पुरुष दोनों में क्रमश: आध्यात्मिक विकास की पूर्णता और मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार किया गया है।[३५] हमें आगमों और आगमिक व्याख्याओं तथा निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता है जिसमें स्त्री मुक्ति का निषेध किया गया हो अथवा किसी ऐसे जैन सम्प्रदाय की सूचना दी गयी हो जो स्त्रीमुक्ति को अस्वीकार करता है। सर्वप्रथम दक्षिण भारत में कुन्दकुन्द आदि कुछ दिगम्बर आचार्य लगभग पाँचवी-छठी शताब्दी में स्त्री-मुक्ति आदि का निषेध करते हैं। कुन्दकुन्द सुत्तपाहुड में कहते हैं कि स्त्री अचेल (नग्न) होकर धर्मसाधना नहीं कर सकती और सचेल चाहे तीर्थंकर भी हो मुक्त नहीं हो सकता।[३६] इसका तात्पर्य यह भी है कि कुन्दकुन्द स्त्री-तीर्थंकर की यापनीय (मूलत: उत्तर भारतीय दिगम्बर संघ) एवं श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित अवधारणा से परिचित थे। यह स्पष्ट है कि पहले स्त्री तीर्थंकर की अवधारणा बनी, फिर उसके विरोध में स्त्रीमुक्ति का निषेध किया गया। सम्भवत: सबसे पहले जैनपरम्परा में स्त्रीमुक्ति-निषेध की अवधारणा का विकास दक्षिण भारत में दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा हुआ। क्योंकि सातवीं-आठवीं शताब्दी तक उत्तर भारत के श्वेताम्बर आचार्य जहाँ सचेलता को लेकर विस्तार से चर्चा करते हैं वहाँ स्त्रीमुक्ति के पक्ष-विपक्ष में कोई भी चर्चा नहीं करते हैं। इसका तात्पर्य है कि उत्तर भारत के जैन सम्प्रदायों में लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी तक स्त्रीमुक्ति सम्बन्धी विवाद उत्पन्न ही नहीं हुआ था। इस सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा पं० बेचरदास स्मृति ग्रन्थ में पं० दलसुखभाई, प्रो० ढाकी और मैंने अपने लेख में की है।[३७] यहाँ केवल हमारा प्रतिपाद्य इतना ही है कि स्त्रीमुक्ति का निषेध दक्षिण भारत में पहले और उत्तर भारत में बाद में प्रारम्भ हुआ है क्योंकि श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों में लगभग आठवी-नौवीं शताब्दी से स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को विवाद के विषय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनपरम्परा में भी धर्मसाधना के क्षेत्र में स्त्री की समकक्षता किस प्रकार कम होती गयी। सर्वप्रथम तो स्त्री की मुक्ति की सम्भावना[३८] को अस्वीकार किया गया है, फिर नग्नता को ही साधना का सर्वस्व मानकर उसे पाँच महाव्रतों के पालन करने के अयोग्य मान लिया गया और उसमें यथाख्यातचारित्र (सच्चरित्रता की उच्चतम अवस्था) को असम्भव बता दिया गया। सुत्तपाहुड में तो स्पष्ट रूप से स्त्री के लिए प्रव्रज्या का निषेध कर दिया गया। दिगम्बर परम्परा में स्त्री को जिन कारणों से प्रव्रज्या और मोक्ष के अयोग्य बताया गया है, वे निम्न हैं -

१. स्त्री की शरीर-रचना ही ऐसी है कि उससे रक्तस्राव होता है, उस पर बलात्कार सम्भव है अत: वह अचेल या नग्न नहीं रह सकती। चूँकि स्त्री अचेल या नग्न नहीं हो सकती, दूसरे शब्दों में वह पूर्ण परिग्रह का त्याग किये बिना उसके द्वारा महाव्रतों का ग्रहण एवं मुक्ति प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती।

२. स्त्री करुणा प्रधान है, उसमें तीव्रतम क्रूर अध्यवसायों का अभाव होता है अत: निम्नतम गति सातवें नरक में जाने के अयोग्य होती है। जैनाचार्यों की इस उदार और मनोवैज्ञानिक मान्यता के आधार पर दिगम्बर परम्परा ने यह मान लिया कि तीव्र पुरुषार्थ के अभाव में जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निम्नतम गति में नहीं जा सकती, अतः वह उच्चतम गति में भी नहीं जा सकती। अतः स्त्री की मुक्ति सम्भव नहीं।

३. यह भी कहा गया है कि चंचल स्वभाव के कारण स्त्रियों में ध्यान की स्थिरता नहीं होती है, अतः वे आध्यात्मिक विकास की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकतीं।

४. एक अन्य तर्क यह भी दिया गया है कि स्त्री में वाद सामर्थ्य एवं तीव्र बुद्धि के अभाव के कारण ये दृष्टिवाद के अध्ययन में अयोग्य होती हैं अतः वे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकतीं।

यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा ने भी उन्हें बौद्धिक क्षमता के कारण दृष्टिवाद, अरुणोपपात, निशीथ आदि के अध्ययन के अयोग्य अवश्य माना फिर भी उनमें 'मोक्षप्राप्ति' की क्षमता को स्वीकार किया गया। चाहे शारीरिक संरचना के कारण इसके लिए संयम-साधना के उपकरण के रूप में वस्त्र आवश्यक हों किन्तु आसक्ति के अभाव के कारण वह परिग्रह नहीं है, अतः इसमें प्रव्रजित होने एवं मुक्त होने की सामर्थ्य है।[३९]

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मुनि के अचेलकत्व (दिगम्बर तत्त्व) की पोषक यापनीय परम्परा ने स्त्री-मुक्ति और पंच महाव्रत आरोपण रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र (स्त्री-दीक्षा) को स्वीकार किया है। उससे विकसित द्राविड़, काष्ठा और माथुर संघों में भी स्त्री-दीक्षा (महाव्रतारोपण) को स्वीकार किया गया है। यद्यपि इस कारण वे मूल संघीय दिगम्बर परम्परा की आलोचना के पात्र भी बने और उन्हें जैनाभास तक कहा गया। इससे स्पष्ट है कि न केवल श्वेताम्बरों ने अपितु दिगम्बर परम्परा के अनेक संघों ने भी स्त्री-मुक्ति और स्त्री-दीक्षा को स्वीकार करके नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया था।[४०]

यह निश्चित ही सत्य है कि आगमिक काल के जैनाचार्यों ने न केवल स्त्री-मुक्ति और स्त्री-दीक्षा को स्वीकार किया, अपितु मल्लि को स्त्री तीर्थंकर के रूप में स्वीकार करके यह भी उद्घोषित किया कि आध्यात्मिक विकास के सर्वोच्च पद की अधिकारी नारी भी हो सकती है। स्त्री तीर्थंकर की अवधारणा जैनधर्म की अपनी एक विशिष्ट अवधारणा है जो नारी गरिमा को महिमामण्डित करती है।

ज्ञातव्य है कि बौद्धपरम्परा जो कि जैनों के समान ही श्रमण धारा का एक अंग थी, स्त्री के प्रति इतनी उदार नहीं बन सकी, जितनी जैन परम्परा। क्योंकि बुद्ध स्त्री को निर्वाण पद की अधिकारिणी मानकर भी यह मानते थे कि स्त्री बुद्धत्व को प्राप्त नहीं कर सकती है। नारी को संघ में प्रवेश देने में उनकी हिचक और उसके प्रवेश के लिए अष्टगुरु धर्मों का प्रतिपादन जैनों की अपेक्षा नारी के प्रति उनके अनुदार दृष्टिकोण का ही परिचायक है। यद्यपि हिन्दू धर्म में शक्ति उपासना के रूप में स्त्री को महत्त्व दिया गया है, किन्तु जैनधर्म में तीर्थंकर की जो अवधारणा है, उसकी अपनी एक विशेषता है। वह यह सूचित करती है कि विश्व का सर्वोच्च गरिमामय पद पुरुष और स्त्री दोनों ही समान रूप से प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि परवर्ती आगमों एवं आगमिक व्याख्या साहित्य में इसे एक आश्चर्यजनक घटना कहकर पुरुष के प्राधान्य को स्थापित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया। (स्थानांग, १०/१६०) किन्तु आगमिक व्याख्याओं के काल में जैन परम्परा में भी पुरुष की महत्ता बढ़ी और ज्येष्ठकल्प के रूप में व्याख्यायित किया गया। अंग आगमों में मुझे एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला जिसमें साध्वी अपनी प्रवर्त्तिनी, आचार्य और तीर्थंकर के अतिरिक्त दीक्षा में कनिष्ठ भिक्षु को वन्दन या नमस्कार करती हो, किन्तु परवर्ती आगम एवं आगमिक व्याख्या-साहित्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी के लिए भी सद्यः दीक्षित मुनि वन्दनीय है। (बृहत्कल्पभाष्य, भाग ६, गाथा ६३९९ ; कल्पसूत्र कल्पलता टीका)। सम्भवतः जैन परम्परा में पुरुष की ज्येष्ठता का प्रतिपादन बौद्धों के अष्टगुरु धर्मों के कारण ही हुआ हो।

जैनधर्म संघ में नारी की महत्ता को यथासम्भव सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। मथुरा में उपलब्ध अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि धर्मकार्यों में पुरुषों के समान नारियाँ भी समान रूप से भाग लेती थीं। वे न केवल पुरुषों के समान पूजा, उपासना कर सकती थीं, अपितु वे स्वेच्छानुसार दान भी करती थीं और मन्दिर आदि बनवाने में समान रूप से भागीदार होती थीं। जैन परम्परा में मूर्तियों पर जो प्राचीन अभिलेख उपलब्ध होते हैं उनमें सामान्य रूप से पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों के नाम भी उपलब्ध होते हैं जो इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं।[४१] यद्यपि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में कुछ लोग यह मानते हैं कि स्त्री को जिन-प्रतिमा के स्पर्श, पूजन एवं अभिषेक का अधिकार नहीं है, किन्तु यह एक परवर्ती अवधारणा है, मथुरा के जैन शिल्प में साधु के समान ही साध्वी का अंकन और स्त्री-पुरुष दोनों के पूजा सम्बन्धी सामग्री सहित अंकन यही सूचित करते हैं कि प्राचीन काल में जैन परम्परा में दोनों का समान स्थान रहा है।

आगमिक व्याख्याकाल में हम देखते हैं कि यद्यपि संघ के प्रमुख के रूप में आचार्य का पद पुरुषों के अधिकार में था, किसी स्त्री के आचार्य होने का कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु गणिनी, प्रवर्त्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका आदि पद स्त्रियों को प्रदान किये जाते थे[४२] और वे अपने भिक्षुणी संघ की स्वतन्त्र रूप से आन्तरिक व्यवस्था देखती थीं। यद्यपि तरुणी भिक्षुणियों की सुरक्षा का दायित्व भिक्षु संघ को सौंपा गया था, किन्तु सामान्यतया भिक्षुणियाँ अपनी सुरक्षा की व्यवस्था स्वयं रखती थीं, क्योंकि रात्रि एवं पदयात्रा में भिक्षु और भिक्षुणियों का एक ही साथ रहना सामान्यतया वर्जित था। इस सुरक्षा के लिए भिक्षुणी संघ में प्रतिहारी आदि के पद भी निर्मित किये गये थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना के क्षेत्र में स्त्री की गरिमा को यथासम्भव सुरक्षित रखा गया फिर भी तथ्यों के अवलोकन से यह निश्चित होता है कि आगमिक व्याख्याओं के युग में और उसके पश्चात् जैन परम्परा में भी स्त्री की अपेक्षा पुरुष को महत्ता दी जाने लगी थी।

नारी की स्वतन्त्रता

नारी की स्वतन्त्रता को लेकर प्रारम्भ में जैनधर्म का दृष्टिकोण उदार था। यौगलिक काल में स्त्री-पुरुष सहभागी होकर जीवन जीते थे। आगम-ग्रन्थ ज्ञाताधर्मकथा[४३] में राज द्रुपद द्रौपदी से कहते हैं कि मेरे द्वारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवाह किये जाने पर तुझे सुख-दु:ख हो सकता है अत: अच्छा हो कि तू अपना वर स्वयं ही चुन। यहाँ ग्रन्थकार के ये विचार वैवाहिक जीवन के लिये नारी-स्वातन्त्र्य के समर्थक हैं। इसी प्रकार हम देखते हैं कि उपासकदशांग में महाशतक अपनी पत्नी रेवती के धार्मिक विश्वास, खान-पान और आचार-व्यवहार पर कोई जबरदस्ती नहीं करता है। जहाँ आनन्द आदि श्रावकों की पत्नियाँ अपने पति का अनुगमन करती हुई महावीर से उपासक व्रतों को ग्रहण करती हैं और धर्मसाधना के क्षेत्र में भी पति की सहभागी बनती हैं, वहीं रेवती अपने पति का अनुगमन नहीं करती है, मात्र यही नहीं, वह तो अपने मायके से मँगाकर मद्य-मांस का सेवन करती है और महाशतक के पूर्ण साधनात्मक जीवन में विघ्न-बाधाएँ भी उपस्थित करती है।[४४] इससे ऐसा लगता है कि आगम युग तक नारी को अधिक स्वातन्त्र्य था किन्तु आगमिक व्याख्या साहित्य में हम पाते हैं कि पति या पत्नी अपने धार्मिक विश्वासों को एक दूसरे पर लादने का प्रयास करते हैं। चूर्णि साहित्य में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें पुरुष स्त्री को अपने धार्मिक विश्वासों की स्वतन्त्रता नहीं देता है।

इसी प्रकार धर्मसंघ में भी आगम युग में भिक्षुणी संघ की व्यवस्था को भिक्षुसंघ से अधिक नियन्त्रित नहीं पाते हैं। भिक्षुणी संघ अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतया आत्मनिर्भर था, गणधर अथवा आचार्य का उस पर बहुत अधिक अंकुश नहीं था, किन्तु छेदसूत्र एवं आगमिक व्याख्या साहित्य के काल में यह नियन्त्रण क्रमश: बढ़ता जाता है। इन ग्रंथों में चातुर्मास, प्रायश्चित्त, शिक्षा, सुरक्षा आदि सभी क्षेत्रों में भिक्षुक वर्ग का प्रभुत्व बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। फिर भी बौद्ध भिक्षुणी संघ की अपेक्षा जैन भिक्षुणी संघ में स्वायत्तता अधिक थी। किन्हीं विशेष परिस्थितियों को छोड़कर वे दीक्षा, प्रयश्चित्त, शिक्षा और सुरक्षा की अपनी व्यवस्था करती थीं और भिक्षु संघ से स्वतन्त्र विचरण करते हुए धर्मोपदेश देती थीं जबकि बौद्धधर्मसंघ में भिक्षुणी को उपोसथ, वर्षावास आदि भिक्षुसंघ के अधीन करने होते थे।

यद्यपि जहाँ तक व्यावहारिक जीवन का प्रश्न था जैनाचार्य हिन्दू परम्परा के चिन्तन से प्रभावित हो रहे थे। मनुस्मृति के समान व्यवहार भाष्य में भी कहा गया है-

जाया पितव्वसा नारी दत्ता नारी पतिव्वसा।
विहवा पुत्तवसा नारी नत्थि नारी सयंवसा।।३/२३३

अर्थात् जन्म के पश्चात् स्त्री पिता के अधीन, विवाहित होने पर पति के अधीन और विधवा होने पर पुत्र के अधीन होती है अत: वह कभी स्वाधीन नहीं है। इस प्रकार आगमिक व्याख्या साहित्य में स्त्री की स्वाधीनता सीमित की गयी है।

पुत्र-पुत्री की समानता का प्रश्न

चाहे प्रारम्भिक वैदिक धर्म में पुत्र और पुत्री की समकक्षता स्वीकार की गई हो किन्तु परवर्ती हिन्दू धर्म में अर्थोपार्जन और धार्मिक कर्मकाण्ड दोनों ही क्षेत्रों में पुरुष की प्रधानता के परिणामस्वरूप पुत्र का स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया और यह उद्घोष किया गया कि पुत्र के बिना पूर्वजों की सुगति/मुक्ति सम्भव नहीं।[४५] फलत: आगे चलकर हिन्दू परम्परा में कन्या की उत्पत्ति को अत्यन्त हीनदृष्टि से देखा जाने लगा। इस प्रकार वैदिक हिन्दू परम्परा में पुत्र-पुत्री की समकक्षता को अस्वीकार कर पुत्र को अधिक महनीयता प्रदान की गई किन्तु इसके विपरीत जैन आगमों में हम देखते हैं कि उपासक और उपासिकाएँ पुत्र-पुत्री हेतु समान रूप से कामना करते हैं।[४६] चाहे अर्थोपार्जन और पारिवारिक व्यवस्था की दृष्टि से जैनधर्मानुयायियों में भी पुत्र की प्रधानता रही हो किन्तु जहाँ तक धार्मिक जीवन और साधना का प्रश्न था, जैन धर्म में पुत्र की महत्ता का कोई स्थान नहीं था। जैन कर्म सिद्धान्त ने स्पष्ट रूप से यह उद्घोषित किया कि व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार ही सुगति या दुर्गति में जाकर सुख-दु:ख का भोग करता है। सन्तान के द्वारा सम्पन्न किये गये कर्मकाण्ड पूर्वजों को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करते[४७] इस प्रकार उसमें धार्मिक आधार पर पुत्र की महत्ता को अस्वीकार कर दिया गया। फलत: आगमिक युग में पुत्र-पुत्री के प्रति समानता की भावना प्रदर्शित की गई किन्तु अर्थोपार्जन और पारिवारिक व्यवस्था में पुरुष की प्रधानता के कारण पुत्रोत्पत्ति को ही अधिक सुखद माना जाने लगा। यद्यपि ज्ञाताधर्मकथा में मल्लि आदि के जन्मोत्सव के उल्लेख उपलब्ध हैं,[४८] किन्तु इन उल्लेखों के आधार पर यह मान लेना कि जैन संघ में पुत्र और पुत्री की स्थति सदैव ही समकक्षता की रही, उचित नहीं हेगा। आगमिक व्याख्या साहित्य एवं पौराणिक साहित्य में उपर्युक्त आगमिक अपवादों को छोड़ कर जैनसंघ में भी पुत्री की अपेक्षा पुत्र को जो अधिक सम्मान मिला उसका आधार धार्मिक मान्यतायें न होकर सामाजिक परिस्थितियाँ थीं। यद्यपि भिक्षुणी संघ की व्यवस्था के कारण पुत्री पिता के लिये उतनी अधिक भारस्वरूप कभी नहीं मानी गयी जितनी उसे हिन्दू परम्परा में माना गया था।

इस प्रकार जैन आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य से जो सूचनाएँ उपलब्ध हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि यौगलिक काल अर्थात् पूर्व युग में और आगम युग में पुत्र और पुत्री दोनों की ही उत्पत्ति सुखद थी किन्तु आगमिक व्याख्याओं के युग में बाह्य सामाजिक एवं आर्थिक प्रभावों के कारण स्थिति में परिवर्तन आया और पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

विवाह संस्था और नर-नारी की समकक्षता का प्रश्न

विवाह-व्यवस्था प्राचीन काल से लेकर आज तक मानवीय समाज व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग रही है। यह सत्य है कि जैनधर्म के अनुयायियों में भी प्राचीनकाल से विवाह व्यवस्था प्रचलित रही है किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि निवृत्तिप्रधान होने के कारण जैनधर्म में विवाह-व्यवस्था को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। धार्मिक दृष्टि से वह स्वपत्नी या स्वपति सन्तोषव्रत की व्यवस्था करता है जिसका तात्पर्य है व्यक्ति को अपनी काम-वासना को स्वपति या स्वपत्नी तक ही सीमित रखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव न हो तो विवाह कर लेना चाहिए। विवाह विधि के सम्बन्ध में जैनाचार्यों की स्पष्ट धारणा क्या थी, इसकी सूचना हमें आगमों और आगमिक व्याख्याओं में नहीं प्राप्त होती है। जैन विवाह-विधि का प्रचलन पर्याप्त रूप से परवर्ती है और दक्षिण के दिगम्बर आचार्यों की ही देन है जो हिन्दू-विवाह-विधि का जैनीकरण मात्र है। उत्तर भारत के श्वेताम्बर जैनों में तो विवाह-विधि को हिन्दू धर्म के अनुसार ही सम्पादित किया जाता है। आज भी श्वेताम्बर जैनों में अपनी कोई विवाह-पद्धति नहीं है। जैन आगमों और आगमिक व्याख्याओं से जो सूचना हमें मिलती है उसके अनुसार यौगलिक काल में युगल रूप से उत्पन्न होने वाले भाई बहन युवावस्था में पति-पत्नी का रूप ले लेते थे। जैन पुराणों के अनुसार सर्वप्रथम ऋषभदेव से ही विवाह प्रथा का आरम्भ हुआ।[४९] उन्होंने भाई-बहनों के बीच स्थापित होने वाले यौन सम्बन्ध (विवाह-प्रणाली) को अस्वीकार कर दिया। उनकी दोनों पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी ने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का निर्णय किया। फलतः भरत और बाहुबलि का विवाह अन्य वंशों की कन्याओं से किया गया। जैन साहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आगमिक काल तक स्त्री विवाह सम्बन्धी निर्णयों को लेने में स्वतन्त्र थी और अधिकांश विवाह उसकी सम्मति से ही किये जाते थे जैसा कि ज्ञाताधर्मकथा में मल्लि[५०] और द्रौपदी के कथानकों से ज्ञात होता है। ज्ञाताधर्मकथा में पिता स्पष्ट रूप से पुत्री से कहता है कि यदि मैं तेरे लिए पति चुनता हूँ तो वह तेरे लिए सुख-दुःख का कारण हो सकता है, इसलिए अच्छा यही होगा तू अपने पति का चयन स्वयं ही कर। मल्लि और द्रौपदी के लिये स्वयम्वरों का आयोजन किया गया था।

आगम ग्रन्थों से जो सूचना मिलती है उसके आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि प्रागैतिहासिक युग और आगम युग में सामान्यतया स्त्री को अपने पति का चयन करने में स्वतन्त्रता थी। यह भी उसकी इच्छा पर निर्भर था कि वह विवाह करे या न करे। पूर्वयुग में ब्राह्मी, सुन्दरी, मल्लि, आगमिक युग में चन्दनबाला, जयन्ती आदि ऐसी अनेक स्त्रियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्यपालन स्वीकार किया और विवाह अस्वीकार कर दिया। आगमिक व्याख्याओं में हमें विवाह के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। डॉ० जगदीश चन्द्र जैन ने जैन आगमों और आगमिक व्याख्याओं में उपलब्ध विवाह के विविध रूपों का विवरण प्रस्तुत किया है यथा - स्वयंवर, माता-पिता द्वारा आयोजित विवाह, गन्धर्व विवाह (प्रेमविवाह), कन्या को बलपूर्वक ग्रहण करके विवाह करना, पारस्परिक आकर्षण या प्रेम के आधार पर विवाह, वर या कन्या की योग्यता देखकर विवाह, कन्यापक्ष को शुल्क देकर विवाह और भविष्यवाणी के आधार पर विवाह।[५१] किन्तु हमें आगम एवं आगमिक व्याख्याओं में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिल सका जहाँ जैनाचार्यों के गुण-दोषों के आधार पर इनमें से किसी का समर्थन या निषेध किया हो या यह कहा हो कि यह विवाह-पद्धति उचित है या अनुचित है। यद्यपि विवाह के सम्बन्ध में जैनों का अपना कोई स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं था पर इतना अवश्य माना जाता था कि यदि कोई ब्रह्मचर्य पालन करने में असफल हो तो उसे विवाह-बन्धन मान लेना चाहिए। जहाँ तक स्वयंवर विधि का प्रश्न है निश्चित ही नारी-स्वातन्त्र्य की दृष्टि से यह विधि महत्त्वपूर्ण थी। किन्तु जनसामान्य में जिस विधि का प्रचलन था वह माता-पिता के द्वारा आयोजित विधि ही थी। यद्यपि इस विधि में स्त्री और पुरुष दोनों की स्वतंत्रता खण्डित होती थी। जैनकथा साहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं जहाँ बलपूर्वक अपहरण करके विवाह सम्पन्न हुआ। इस विधि में नारी की स्वतंत्रता पूर्णतया खण्डित हो जाती थी; क्योंकि अपहरण करके विवाह करने का अर्थ मात्र यह मानना नहीं है कि स्त्री को चयन की स्वतंत्रता ही नहीं है, अपितु यह तो उसे लूट की सम्पत्ति मानने जैसा है।

जहाँ तक आगमिक व्याख्याओं का प्रश्न है उनमें अधिकांश विवाह माता-पिता के द्वारा आयोजित विवाह ही हैं, केवल कुछ प्रसंगों में ही स्वयंवर एवं गन्धर्व विवाह के उल्लेख मिलते हैं जो आगम युग एवं पूर्व काल के हैं। माता-पिता के द्वारा आयोजित इस विवाह-विधि में स्त्री-पुरुषों की समकक्षता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यद्यपि यह सत्य है कि जैनाचार्यों ने विवाह-विधि के सम्बन्ध में गम्भीरता से चिन्तन नहीं किया किन्तु यह सत्य है कि उन्होंने स्त्री को गरिमाहीन बनाने का प्रयास भी नहीं किया। जहाँ हिन्दू-परम्परा में विवाह स्त्री के लिए बाध्यता थी, वहीं जैन-परम्परा में ऐसा नहीं किया गया। प्राचीनकाल से लेकर अद्यावधि विवाह करने न करने के प्रश्न को स्त्री-विवेक पर छोड़ दिया गया। जो स्त्रियाँ यह समझती थीं कि वे अविवाहित रहकर अपनी साधना कर सकेंगी उन्हें बिना विवाह किये ही दीक्षित होने का अधिकार था। विवाह-संस्था जैनों के लिए ब्रह्मचर्य की साधना में सहायक होने के रूप में ही स्वीकार की गई। जैनों के लिए विवाह का अर्थ था अपनी वासना को संयमित करना। केवल उन्हीं लोगों के लिए विवाह-संस्था में प्रवेश आवश्यक माना गया था जो पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ पाते हों अथवा विवाह के पूर्व पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन का व्रत नहीं ले चुके हैं। अतः हम कह सकते हैं कि जैनों ने ब्रह्मचर्य की आंशिक साधना के अंग के रूप में विवाह-संस्था को स्वीकार करके भी नारी की स्वतन्त्र निर्णय शक्ति को मान्य करके उसकी गरिमा को खण्डित नहीं होने दिया।

बहुपति और बहुपत्नी प्रथा

विवाह संस्था के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बहुविवाह का भी है। इसके दो रूप हैं बहुपत्नी प्रथा और बहुपति प्रथा। यह स्पष्ट है कि द्रौपदी के एक अपवाद को छोड़कर हिन्दू और जैन दोनों ही परम्पराओं में नारी के सम्बन्ध में एक-पति प्रथा की अवधारणा को ही स्वीकार किया गया और बहुपति प्रथा को धार्मिक दृष्टि से अनुचित माना गया। जैनाचार्यों ने द्रौपदी के बहुपति होने की अवधारणा को इस आधार पर औचित्यपूर्ण बताने का प्रयास किया है कि सुकमालिका आर्या के भव में उसने अपने तप के प्रताप से पाँच पति प्राप्त करने का निदान (निश्चय कर) लिया था।[५२] अतः इसे पूर्वकर्म का फल मानकर सन्तोष किया

गया। किन्तु दूसरी ओर पुरुष के सम्बन्ध में बहुपत्नी प्रथा की स्पष्ट अवधारणा आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य में मिलती है। इनमें ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं जहाँ पुरुषों को बहुविवाह करते दिखाया गया है। दु:ख तो यह है कि उनकी इस प्रवृत्ति की समालोचना भी नहीं की गई है। अत: उस युग में जैनाचार्य इस सम्बन्ध में तटस्थ भाव रखते थे, यही कहा जा सकता है। क्योंकि किसी जैनाचार्य ने बहुविवाह को अच्छा कहा हो, ऐसा भी कोई सन्दर्भ नहीं मिलता है। उपासकदशा में श्रावक के स्वपत्नीसन्तोषव्रत के अतिचारों का उल्लेख मिलता है, उसमें 'परविवाहकरण' को अतिचार या दोष माना गया है।[५३] 'परविवाहकरण' की व्याख्या में उसका एक अर्थ दूसरा विवाह करना बताया गया है अत: हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि जैनों का आदर्श एकपत्नीव्रत ही रहा है।

बहुपत्नी प्रथा के आविर्भाव पर विचार करें तो हम पाते हैं कि यौगलिक काल तक बहुपत्नी प्रथा प्रचलित नहीं थी। आवश्यकचूर्णि के अनुसार सर्वप्रथम ऋषभदेव ने दो विवाह किये थे। किन्तु उनके लिए दूसरा विवाह इसलिए आवश्यक हो गया था कि एक युगल में पुरुष की अकाल मृत्यु हो जाने के कारण उस स्त्री को सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से यह आवश्यक था। किन्तु जब आगे चलकर स्त्री को एक सम्पत्ति के रूप में देखा जाने लगा तो स्वाभाविक रूप से स्त्री के प्रति अनुग्रह को भावना के आधार पर नहीं, अपितु अपनी कामवासनापूर्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए बहुविवाह की प्रथा आरम्भ हो गयी। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि समाज में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी किन्तु इसे जैनधर्म सम्मत एक आचार मानना अनुचित होगा। क्योंकि जब जैनों में विवाह को ही एक अनिवार्य धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया तो बहुविवाह को धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैन आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य में यद्यपि पुरुष के द्वारा बहुविवाह के अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं किन्तु हमें एक भी ऐसा सन्दर्भ नहीं मिलता जहाँ कोई व्यक्ति गृहस्थोपासक के व्रतों को स्वीकार करने के पश्चात् बहुविवाह करता है। यद्यपि ऐसे सन्दर्भ तो हैं कि मुनिव्रत या श्रावकव्रत स्वीकार करने के पूर्व अनेक गृहस्थोपासकों की एक से अधिक पत्नियाँ थी। किन्तु व्रत स्वीकार करने के पश्चात् किसी ने अपनी पत्नियों की संख्या में वृद्धि की हो, ऐसा एक भी सन्दर्भ मुझे नहीं मिला। आदर्श स्थिति तो एकपत्नी प्रथा को ही माना जाता था। उपासकदशा में १० प्रमुख उपासकों में केवल एक की ही एक से अधिक पत्नियाँ थीं। शेष सभी को एक-एक पत्नी थी साथ ही उसमें श्रावकों के व्रतों के जो अतिचार बताये गये हैं उनमें स्वपत्नीसन्तोष व्रत का एक अतिचार 'परविवाहकरण है।[५३] यद्यपि कुछ जैनाचार्यों ने 'परविवाहकरण' का अर्थ स्व-सन्तान के अतिरिक्त अन्यों की सन्तानों का विवाह-सम्बन्ध करवाना माना है किन्तु उपासक-दशांग की टीका में आचार्य अभयदेव ने इसका अर्थ एक से अधिक विवाह करना माना है।[५४] अत: हम यह कह सकते हैं कि धार्मिक आधार पर जैनधर्म बहुपत्नी प्रथा का समर्थक नहीं है। बहुपत्नी-प्रथा का उद्देश्य तो वासना में आकण्ठ डूबना है जो निवृत्तिप्रधान जैनधर्म की मूल भावना के अनुकूल नहीं है। जैन ग्रन्थों में जो बहुपत्नी प्रथा की उपस्थिति के संकेत मिलते हैं वे उस युग की सामाजिक स्थिति के सूचक हैं। आगम साहित्य में पार्श्व, महावीर एवं महावीर के नौ प्रमुख उपासकों की एक-एक पत्नी मानी गई है।

विधवा विवाह एवं नियोग

यद्यपि आगमिक व्याख्या साहित्य में नियोग और विधवा-विवाह के कुछ सन्दर्भ उपलब्ध हो जाते हैं किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह भी जैनाचार्यों द्वारा समर्थित नहीं है। निशीथचूर्णि में एक राजा को अपनी पत्नी से नियोग के द्वारा सन्तान उत्पन्न करवाने के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि जिस प्रकार खेत में बीज किसी ने भी डाला हो फसल का अधिकारी भूस्वामी ही होता है। उसी प्रकार स्वस्त्री से उत्पन्न सन्तान का अधिकारी उसका पति ही होता है।[५५] यह सत्य है कि एक युग में भारत में नियोग की परम्परा प्रचलित रही किन्तु निवृत्तिप्रधान जैनधर्म ने न तो नियोग का समर्थन किया, न ही विधवा विवाह का। क्योंकि उसकी मूलभूत प्रेरणा यही रही कि जब भी किसी स्त्री या पुरुष को कामवासना से मुक्त होने का अवसर प्राप्त हो वह उससे मुक्त हो जाय। जैन आगम एवं आगमिक व्याख्याओं में हजारों सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जहाँ पति की मृत्यु के पश्चात् विधवायें भिक्षुणी बनकर संघ की शरण में चली जाती थी। जैन संघ में भिक्षुणियों की संख्या के अधिक होने का एक कारण यह भी था कि भिक्षुणी संघ विधवाओं के सम्मानपूर्ण एवं सुरक्षित जीवन जीने का आश्रयस्थल था। यद्यपि कुछ लोगों के द्वारा यह कहा जाता है कि ऋषभदेव ने मृत युगल पत्नी से विवाह करके विधवा-विवाह की परम्परा को स्थापित किया था। किन्तु आवश्यक चूर्णि से स्पष्ट होता है कि वह स्त्री मृत युगल की बहन थी, पत्नी नहीं। क्योंकि उस युगल में पुरुष की मृत्यु बालदशा में हो चुकी थी। अत: इस आधार पर विधवा विवाह का समर्थन नहीं होता है। जैनधर्म जैसे निवृत्तिप्रधान धर्म में विधवा-विवाह को मान्यता प्राप्त नहीं थी। यद्यपि भारतीय समाज में ये प्रथाएँ प्रचलित थीं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है।

विधुर-विवाह

जब समाज में बहु-विवाह को समर्थन हो तो विधुर-विवाह को मान्य करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। किन्तु इसे जैनधर्म में धार्मिक दृष्टि से समर्थन प्राप्त था, यह नहीं कहा जा सकता। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् आदर्श स्थिति तो यही मानी गई थी कि व्यक्ति वैराग्य ले ले। मात्र यही नहीं अनेक स्थितियों में पति, पत्नी के भिक्षुणी बनने पर स्वयं भी भिक्षु बन जाता है। यद्यपि सामाजिक जीवन में विधुर-विवाह के अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं जिनके संकेत आगमिक व्याख्या साहित्य में मिलते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवाहेतर यौन सम्बन्ध

जैनधर्म में पति-पत्नी के अतिरिक्त अन्यत्र यौन सम्बन्ध स्थापित करना धार्मिक दृष्टि से सदैव ही अनुचित माना गया। वेश्यागमन और परस्त्रीगमन दोनों को अनैतिक कर्म बताया गया। फिर भी न केवल गृहस्थ स्त्री-पुरुषों में अपितु भिक्षु-भिक्षुणियों में भी अनैतिक यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाते थे, आगमिक व्याख्या साहित्य में ऐसे सैकड़ों प्रसंग उल्लिखित हैं। जैन आगमों और उनकी टीकाओं आदि में ऐसी अनेक स्त्रियों का उल्लेख मिलता है जो अपने साधना-मार्ग से पतित होकर स्वेच्छाचारी बन गयी थीं। ज्ञाताधर्मकथा, उसकी टीका, आवश्यकचूर्णि आदि में पार्श्वापत्य परम्परा की अनेक शिथिलाचारी साध्वियों के उल्लेख मिलते हैं।[५६] ज्ञाताधर्मकथा में दौपदी का पूर्व जीवन भी इसी रूप में वर्णित है। साधना काल में वह वेश्या को पाँच पुरुषों से सेवित देखकर स्वयं पाँच पतियों की पत्नी बनने का निदान कर लेती है।[५७] निशीथचूर्णि में पुत्रियों और पुत्रवधु के जार अथवा धूर्त व्यक्तियों के साथ भागने के उल्लेख हैं। आगमिक व्याख्याओं में मुख्यत: निशीथचूर्णि, बृहत्कल्पभाष्य व्यवहारभाष्य आदि में ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जहाँ स्त्रियाँ अवैध सन्तानों को भिक्षुओं के निवास स्थानों पर छोड़ जाती थीं [५८]। आगम और आगमिक व्याख्यायें इस बात की साक्षी हैं कि स्त्रियाँ सम्भोग के लिए भिक्षुओं को उत्तेजित करती थीं[५९] उन्हें इस हेतु विवश करती थीं और उनके द्वारा इन्कार किये जाने पर उन्हें बदनाम किये जाने का भय दिखाती थीं। आगमिक व्याख्याओं में इन परिस्थितियों में भिक्षु को क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध में अनेक आपवादिक नियमों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि शीलभंग सम्बन्धी अपराधों के विविध रूपों एवं सम्भावनाओं के उल्लेख जैन परम्परा में विस्तार से मिलते हैं किन्तु इस चर्चा का उद्देश्य साधक को वासना सम्बन्धी अपराधों से विमुख बनाना ही रहा है। यह जीवन का यथार्थ तो था किन्तु जैनाचार्य उसे जीवन का विकृतपक्ष मानते थे और उस आदर्श समाज की कल्पना करते हैं जहाँ इसका पूर्ण अभाव हो।

आगमिक व्याख्याओं में उन घटनाओं का भी उल्लेख है जिनके कारण स्त्रियों को पुरुषों की वासना का शिकार होना पड़ा था। पुरुषों की वासना का शिकार होने से बचने के लिए भिक्षुणियों को अपनी शील-सुरक्षा में कौन-कौन-सी सतर्कता बरतनी होती थी यह भी उल्लेख निशीथ और बृहत्कल्प दोनों में ही विस्तार से मिलता है। रूपवती भिक्षुणियों को मनचले युवकों और राजपुरुषों की कुदृष्टि से बचने के लिए इस प्रकार का वेश धारण करना पड़ता था ताकि वे कुरुप प्रतीत हों। भिक्षुणियों को सोते समय क्या व्यवस्था करनी चाहिए इसका भी बृहत्कल्पभाष्य में विस्तार से वर्णन है। भिक्षुणी संघ में प्रवेश करने वालों की पूरी जाँच की जाती थी। प्रतिहारी भिक्षुणी उपाश्रय के बाहर दण्ड लेकर बैठती थी। शील सुरक्षा के जो विस्तृत विवरण हमें आगमिक व्याख्याओं में मिलते हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष वर्ग स्त्रियों एवं भिक्षुणियों को अपनी वासना का शिकार बनाने में कोई कमी नहीं रखता था। पुरुष द्वारा बलात्कार किये जाने पर और ऐसी स्थिति में गर्भ रह जाने पर संघ उस भिक्षुणी के प्रति सद्भावनापूर्वक व्यवहार करता था तथा उसके गर्भ की सुरक्षा के प्रयत्न भी किये जाते थे। प्रसूत बालक को जब वह उस स्थिति में हो जाता था कि वह माता के बिना रह सके तो उसे उपासक को सौंपकर अथवा भिक्षु संघ को सौंपकर ऐसी भिक्षुणी पुन: भिक्षुणी संघ में प्रवेश पा लेती थी।[६०] ये तथ्य इस बात के सूचक हैं कि सदाचारी नारियों के संरक्षण में जैनसंघ सदैव सजग था।

नारी-रक्षा

बलात्कार किये जाने पर किसी को भिक्षुणी की आलोचना का अधिकार नहीं था। इसके विपरीत जो व्यक्ति ऐसी भिक्षुणी की आलोचना करता उसे ही दण्ड का पात्र माना जाता था। नारी की मर्यादा की रक्षा के लिए जैनसंघ सदैव ही तत्पर रहता था। निशीथचूर्णी में उल्लिखित कालकाचार्य की कथा में इस बात का प्रमाण है कि अहिंसा का प्राणपण से पालन करने वाला भिक्षुसंघ भी नारी की गरिमा को खण्डित होने की स्थिति में दुराचारियों को दण्ड देने के लिए शस्त्र पकड़कर सामने आ जाता था। निशीथचूर्णि में कालकाचार्य की कथा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आचार्य ने भिक्षुणी[६१] (बहन सरस्वती) की शील-सुरक्षा के लिये गर्दभिल्ल के विरुद्ध शकों की सहायता लेकर पूरा संघर्ष किया था। निशीथ, बृहत्कल्पभाष्य आदि में स्पष्ट रूप से ऐसे उल्लेख हैं कि यदि संघस्थ भिक्षुणियों की शील-सुरक्षा के लिये दुराचारी व्यक्ति की हत्या करने का कार्य भी अपरिहार्य हो जाये तो ऐसी हत्या को भी उचित माना गया। नारी के शील की सुरक्षा करने वाले ऐसे भिक्षु को संघ में सम्मानित भी किया जाता था। बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है कि जल, अग्नि, चोर और दुष्काल की स्थिति में सर्वप्रथम स्त्री की रक्षा करनी चाहिए। इसी प्रकार डूबते हुए श्रमण और भिक्षुणी में पहले भिक्षुणी को और क्षुल्लक और क्षुल्लिका में से क्षुल्लिका की रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार नारी की रक्षा को प्राथमिकता दी गई।

सती प्रथा और जैनधर्म

उत्तरमध्य युग में नारी उत्पीड़न का सबसे बीभत्स रूप सती प्रथा बन गया था, यदि हम सती प्रथा के सन्दर्भ में जैन आगम और व्याख्या साहित्य को देखें तो स्पष्ट रूप से हमें एक भी ऐसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता जहाँ पत्नी पति के शव के साथ जली हो या जला दी गयी हो। यद्यपि निशीथचूर्णि में एक ऐसा उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार सौपारक के पाँच सौ व्यापारियों को कर न देने के कारण राजा ने उन्हें जला देने का आदेश दे दिया था और उक्त उल्लेख के अनुसार उन व्यापारियों की पत्नियाँ भी उनकी चिताओं में जल गयी थीं।[६२] लेकिन जैनाचार्य इसका समर्थन नहीं करते हैं। पुन: इस आपवादिक उल्लेख के अतिरिक्त हमें जैन साहित्य में इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध नहीं होते हैं, महानिशीथ में इससे भिन्न यह उल्लेख भी मिलता है कि किसी राजा की विधवा कन्या सती होना चाहती थी किन्तु उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पितृकुल में यह रिवाज नहीं था अत: उसने अपना विचार त्याग दिया।[६३] इससे लगता है कि जैनाचार्यों ने पति की मृत्योपरान्त स्वेच्छा से भी अपने देह-त्याग को अनुचित ही माना है और इस प्रकार के मरण को बाल-मरण या मूर्खता ही कहा है। सती प्रथा का धार्मिक समर्थन जैन आगम साहित्य और उसकी व्याख्याओं में हमें कहीं नहीं मिलता है।

यद्यपि आगमिक व्याख्याओं में दधिवाहन की पत्नी एवं चन्दना की माता धारिणी आदि के कुछ ऐसे उल्लेख अवश्य हैं जिनमें ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त देह-त्याग किया गया है[६४] किन्तु यह अवधारणा सती प्रथा की अवधारणा से भिन्न है। जैन धर्म और दर्शन यह नहीं मानता है कि मृत्यु के बाद पति का अनुगमन करने से अर्थात् जीवित चिता में जल मरने से पुन: स्वर्गलोक में उसी पति की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत जैनधर्म अपने कर्म सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानता है कि पति-पत्नी अपने-अपने कर्मों और मनोभावों के अनुसार ही विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं। यद्यपि परवर्ती जैन कथा साहित्य में हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं जहाँ एक भव के पति-पत्नी आगामी अनेक भवों के जीवनसाथी बने, किन्तु इसके विरुद्ध भी उदाहरणों की जैन कथा साहित्य में कमी नहीं है।

अत: यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि धार्मिक आधार पर जैन धर्म सतीप्रथा का समर्थन नहीं करता। जैन धर्म के सती प्रथा के समर्थक न होने के कुछ सामाजिक कारण भी रहे हैं। व्याख्या साहित्य में ऐसी अनेक कथाएँ वर्णित हैं जिनके अनुसार पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी न केवल पारिवारिक दायित्व का निर्वाह करती थी, अपितु पति के व्यवसाय का संचालन भी करती थी। शालिभद्र की माता भद्रा को राजगृह की एक महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठी और व्यापारी निरूपित किया गया है जिसके वैभव को देखने के लिये श्रेणिक भी उसके घर आया था। आगमों और आगमिक व्याख्याओं में ऐसे अनेक उल्लेख हैं जहाँ कि स्त्री पति की मृत्यु के पश्चात् विरक्त होकर भिक्षुणी बन जाती थी। यह सत्य है कि जैन भिक्षुणी संघ विधवाओं, कुमारियों और परित्यक्ताओं का आश्रय-स्थल था। यद्यपि जैन आगम साहित्य एवं व्याख्या साहित्य दोनों में हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं जहाँ पति और पुत्रों के जीवित रहते हुए भी पत्नी या माता भिक्षुणी बन जाती थी। ज्ञाताधर्मकथा में द्रौपदी पति और पुत्रों की सम्मति से दीक्षित हुई थी किन्तु इनके अलावा ऐसे उदाहरणों की भी विपुलता देखी जाती है जहाँ पत्नियाँ पति के साथ अथवा पति एवं पुत्रों की मृत्यु के उपरान्त विरक्त होकर संन्यास ग्रहण कर लेती थीं। कुछ ऐसे उल्लेख भी मिले हैं जहाँ स्त्री आजीवन ब्रह्मचर्य को धारण करके या तो पितृगृह में ही रह जाती थी अथवा दीक्षित हो जाती थी। जैन परम्परा में भिक्षुणी संस्था एक ऐसा आधार रही है जिसने हमेशा नारी को संकट से उबारकर न केवल आश्रय दिया है, अपितु उसे सम्मान और प्रतिष्ठा का जीवन जीना सिखाया है।

जैन भिक्षुणी संघ उन सभी स्त्रियों के लिये जो विधवा, परित्यक्ता अथवा आश्रयहीन होती थीं, शरणदाता होता था। अत: जैन धर्म में सती प्रथा को कोई प्रश्रय नहीं मिला। जब भी नारी पर कोई अत्याचार किये गये, जैन भिक्षुणी संघ उसके लिए रक्षाकवच बना क्योंकि भिक्षुणी संघ में प्रवेश करने के बाद न केवल वह पारिवारिक उत्पीड़न से बच सकती थी अपितु एक सम्मानपूर्ण जीवन भी जी सकती थी। आज भी विधवाओं, परित्यक्ताओं, पिता के पास दहेज के अभाव, कुरूपता अथवा अन्य किन्हीं कारणों से अविवाहित रहने के लिये विवश कुमारियों आदि के लिये जैन भिक्षुणी संघ आश्रयस्थल है। जैन भिक्षुणी संघ ने नारी गरिमा और उसके सतीत्व दोनों की रक्षा की। यही कारण था सती-प्रथा जैसी कुत्सित प्रथा जैन धर्म में कभी भी नहीं रही।

महानिशीथ में एक स्त्री को सती होने का मानस बनाने पर भी अपनी कुल-परम्परा में सती प्रथा का प्रचलन नहीं होने के कारण अपने निर्णय को बदलता हुआ देखते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि जैनाचार्यों की दृष्टि सतीप्रथा विरोधी थी। जैन आचार्य और साध्वियाँ विधवाओं को सती बनने से रोककर उन्हें संघ में दीक्षित होने की प्रेरणा देते थे। जैन परम्परा में ब्राह्मी, सुन्दरी और चन्दना आदि को सती कहा गया है और तीर्थंकरों के नाम-स्मरण के साथ-साथ आज भी १६ सतियों का नाम स्मरण किया जाता है, किन्तु इन्हें सती इसलिये कहा गया कि ये अपने शील की रक्षा हेतु या तो अविवाहित रहीं या पति की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने अपने चरित्र एवं शील को सुरक्षित रखा। आज जैन साध्वियों के लिये एक बहुप्रचलित नाम महासती है उसका आधार शील का पालन ही है। जैन परम्परा में आगमिक व्याख्याओं और पौराणिक रचनाओं के पश्चात् जो प्रबन्ध साहित्य लिखा गया, उसमें सर्वप्रथम सती प्रथा का ही जैनीकरण किया हुआ एक रूप हमें देखने को मिलता है। तेजपाल-वस्तुपाल प्रबन्ध में बताया गया है कि तेजपाल और वस्तुपाल की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नियों ने अनशन करके अपने प्राण त्याग दिये।[६५] यहाँ पति की मृत्यु के पश्चात् शरीर त्यागने का उपक्रम तो है किन्तु उसका स्वरूप सौम्य और वैराग्य प्रधान बना दिया गया है। वस्तु: यह उस युग में प्रचलित सती प्रथा की जैनधर्म में क्या प्रतिक्रिया हुई थी, उसका सूचक है।

गणिकाओं की स्थिति

गणिकायें और वेश्यायें भारतीय समाज का आवश्यक घटक रही हैं। उन्हें अपरिगृहीता-स्त्री माना जाये या परिगृहीता इसे लेकर जैन आचार्यों में विवाद रहा है। क्योंकि आगमिक काल में उपासक के लिये हम अपरिगृहीता-स्त्री से सम्भोग करने का निषेध देखते हैं। भगवान् महावीर के पूर्व पार्श्वापत्य परम्परा के शिथिलाचारी श्रमण यहाँ तक कहने लगे थे कि बिना विवाह किये अर्थात् परिगृहीत किये बिना यदि कोई स्त्री कामवासना की आकांक्षा करती है तो उसके साथ सम्भोग करने में कोई पाप नहीं है।[६६] ज्ञातव्य है कि पार्श्व की परम्परा में ब्रह्मचर्य व्रत अपरिग्रह के अधीन माना गया था क्योंकि उस युग में नारी को भी सम्पत्ति माना जाता था, चूँकि ऐसी स्थिति में अपरिग्रह के व्रत का भंग नहीं था इसलिये शिथिलाचारी श्रमण उसका विरोध कर रहे थे। यही कारण था कि भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य को जोड़ा था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूँकि वेश्या या गणिका परस्त्री नहीं थी, अत: परस्त्री-निषेध के साथ स्वपत्नी सन्तोषव्रत को भी जोड़ा गया और उसके अतिचारों में अपरिगृहीतागमन को भी सम्मिलित किया गया और कहा गया कि गृहस्थ उपासक को अपरिगृहीत (अविवाहित) स्त्री से सम्भोग नहीं करना चाहिए। पुन: जब यह माना गया है कि परिग्रहण के बिना सम्भोग सम्भव नहीं, साथ ही द्रव्य देकर कुछ समय के लिये गृहीत वेश्या भी परिगृहीत की कोटि में आ जाती है, तो परिणामस्वरूप धनादि देकर अल्पकाल के लिए गृहीत स्त्री (इत्वरिका)[६७] के साथ भी सम्भोग का निषेध किया गया और गृहस्थ उपासक के लिए आजीवन हेतु गृहीत अर्थात् विवाहित स्त्री के अतिरिक्त सभी प्रकार के यौन सम्बन्ध निषिद्ध माने गये। जैनाचार्यों में सोमदेव (१०वीं शती) एक ऐसे आचार्य थे जिन्होंने श्रावक के स्वपत्नीसंतोष व्रत में, वेश्या को उपपत्नी मानकर उसका भोग राजा और श्रेष्ठी वर्ग के लिए विहित मान लिया था - किन्तु यह एक अपवाद ही था।

यद्यपि आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य सभी लोगों के साथ जैनधर्म के प्रति श्रद्धावान् सामान्यजन भी किसी न किसी रूप में गणिकाओं से सम्बद्ध रहा है। आगमों में उल्लेख है कि कृष्ण वासुदेव की द्वारिका नगरी में अनंगसेना प्रमुख अनेक गणिकाएँ भी थीं।[६८] स्वयं ऋषभदेव के नीलांजना का नृत्य देखते समय उसकी मृत्यु से प्रतिबोधित होने की कथा दिगम्बर परम्परा में सुविश्रुत है।[६९] कुछ विद्वान् मथुरा में इसके अंकन को भी स्वीकार करते हैं। ज्ञाताधर्मकथा आदि में देवदत्ता आदि गणिकाओं की समाज में सम्मानपूर्ण स्थिति की सूचना मिलती है।[७०] समाज के सम्पन्न परिवारों के लोगों के वेश्याओं से सम्बन्ध थे, इसकी सूचना आगम, आगमिक व्याख्या साहित्य और जैन पौराणिक साहित्य में विपुल मात्रा में उपलब्ध है। कान्हड कठिआरा और स्थूलभद्र के आख्यान सुविश्रुत हैं किन्तु इन सब उल्लेखों से यह मान लेना कि वेश्यावृत्ति जैनधर्मसम्मत थी या जैनाचार्य इसके प्रति उदासीन भाव रखते थे सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी। हम यह पूर्व में संकेत कर ही चुके हैं कि जैनाचार्य इस सम्बन्ध में सजग थे और किसी भी स्थिति में इसे औचित्यपूर्ण नहीं मानते थे। सातवीं-आठवीं शती में तो जैनधर्म का अनुयायी बनने की प्रथम शर्त यही थी कि व्यक्ति सप्त दुर्व्यसन का त्याग करे। इसमें परस्त्रीगमन और वेश्यागमन दोनों निषिद्ध माने गये थे।[७१] उपासकदशा में "असतीजन पोषण" श्रावक के लिए निषिद्ध कर्म था।[७२]

आगमिक व्याख्याओं में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अनेक वेश्याओं और गणिकाओं की अपनी नैतिक मर्यादाएँ थीं, वे उनका कभी उल्लंघन नहीं करती थीं। कान्हडकठिआरा और स्थूलभद्र के आख्यान इसके प्रमाण हैं।[७३] ऐसी वेश्याओं और गणिकाओं के प्रति जैनाचार्य अनुदार नहीं थे, उनके लिए धर्मसंघ में प्रवेश के द्वार खुले थे, वे श्राविकाएँ बन जाती थीं। कोशा ऐसी वेश्या थी जिसकी शाला में जैन मुनियों को नि:संकोच भाव से चातुर्मास व्यतीत करने की अनुज्ञा आचार्य दे देते थे। मथुरा के अभिलेख इस बात के साक्षी हैं कि गणिकाएँ जिनमन्दिर और आयागपट्ट (पूजापट्ट) बनवाती थीं।[७४] यह जैनाचार्यों का उदार दृष्टिकोण था जो इस पतित वर्ग का उद्धार कर उसे प्रतिष्ठा प्रदान करता था।

नारी-शिक्षा

नारी-शिक्षा के सम्बन्ध में जैन आगमों और आगमिक व्याख्याओं से हमें जो सूचना मिलती है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में नारी को समुचित शिक्षा प्रदान की जाती थी। अपेक्षाकृत परवर्ती आगम जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आवश्यकचूर्णि एवं दिगम्बर परम्परा के आदिपुराण आदि में उल्लेख है कि ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को गणित और लिपि विज्ञान की शिक्षा दी थी। मात्र यही नहीं, ज्ञाताधर्मकथा और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में स्त्री की चौंसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। यद्यपि यहाँ इनके नाम नहीं दिये गये हैं तथापि यह अवश्य सूचित किया गया है कि कन्याओं को इनकी शिक्षा दी जाती है। सर्वप्रथम जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका में इनका विवरण उपलब्ध होता है।[७५] आश्चर्यजनक यह है कि जहाँ ज्ञाताधर्मकथा में पुरुष की ७२ कलाओं का वर्णन है, वहीं नारी की चौसठ कला का निर्देशमात्र है। फिर भी इतना निश्चित है कि भारतीय समाज में यह अवधारणा बन चुकी थी। ज्ञाताधर्मकथा में देवदत्ता गणिका को चौंसठ कलाओं में पण्डित, चौंसठ गणिका गुण (काल-कला) से उपपेत, उन्तीस प्रकार से रमण करने में प्रवीण, इक्कीस रतिगुणों में प्रधान, बत्तीस पुरुषोपचार में कुशल, नवांगसूत्र प्रतिबोधित और अठारह देशी भाषाओं में विशारद कहा है।[७६] इन सूचियों को देखकर स्पष्ट रूप से ऐसा लगता है कि स्त्रियों को उनकी प्रकृति और दायित्व के अनुसार भाषा, गणित, लेखनकला आदि के साथ-साथ स्त्रियोचित नृत्य, संगीत और ललितकलाओं तथा पाक-शास्त्र आदि में शिक्षित किया जाता था।

यद्यपि आगम और आगमिक व्याख्याएँ इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं हैं कि ये शिक्षा उन्हें घर पर ही दी जाती थी अथवा वे गुरुकुल में जाकर इनका अध्ययन करती थीं। स्त्री-गुरुकुल के सन्दर्भ के अभाव से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी शिक्षा की व्यवस्था घर पर ही की जाती थी। सम्भवत: परिवार की प्रौढ़ महिलाएँ ही उनकी शिक्षा की व्यवस्था करती थीं किन्तु सम्पन्न परिवारों में इस हेतु विभिन्न देशों की दासियों एवं गणिकाओं की भी नियुक्ति की जाती थी जो इन्हें इन कलाओं में पारंगत बनाती थीं। आगमिक व्याख्याओं में हमें कोई भी ऐसा सन्दर्भ उपलब्ध नहीं हुआ जो सहशिक्षा का निर्देश करता हो। नारी के गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी इन शिक्षाओं के प्राप्त करने के अधिकार में प्रागैतिहासिक काल से लेकर आगमिक व्याख्याओं के काल तक कोई विशेष परिवर्तन हुआ हो, ऐसा भी हमें ज्ञात नहीं होता; मात्र विषयवस्तु में क्रमिक विकास हुआ होगा। यद्यपि लौकिक शिक्षा में स्त्री और पुरुष की प्रकृति एवं कार्य के आधार पर अन्तर किया गया था, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि स्त्री और पुरुष में कोई भेद-भाव किया जाता था। नारी को उसके लिए

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

आवश्यक सभी पक्षों की सम्पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि यह सत्य है कि उस युग में स्त्री और पुरुष दोनों के लिए कर्म प्रधान शिक्षा का ही विशेष प्रचलन था।

जहाँ तक धार्मिक-आध्यात्मिक शिक्षा का प्रश्न है वह उन्हें भिक्षुणियों के द्वारा प्रदान की जाती थी। सूत्रकृतांग से ज्ञात होता है कि जैन-परम्परा में भिक्षु को स्त्रियों को शिक्षा देने का अधिकार नहीं था।[७७] वह केवल स्त्रियों और पुरुषों की संयुक्त सभा में उपदेश दे सकता था। सामान्यतया भिक्षुणियों और गृहस्थ उपासिकाओं दोनों को ही स्थविरा भिक्षुणियों के द्वारा ही शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं में हमें कुछ सूचनायें उपलब्ध होती हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य और उपाध्याय भी कभी-कभी उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। व्यवहार सूत्र में उल्लेख है कि तीन वर्ष की पर्याय वाला निर्ग्रन्थ, तीस वर्ष की पर्याय वाली भिक्षुणी का उपाध्याय तथा पाँच वर्ष की पर्याय वाला निर्ग्रन्थ साठ वर्ष की पर्याय वाली श्रमणी का आचार्य हो सकता था।[७८] जहाँ तक स्त्रियों के द्वारा धर्मग्रन्थों के अध्ययन का प्रश्न है अति प्राचीनकाल में इस प्रकार का कोई बन्धन रहा हो, हमें ज्ञात नहीं होता। अन्तकृद्दशा आदि आगम ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जहाँ भिक्षुणियों के द्वारा सामायिक आदि ११ अंगों का अध्ययन किया जाता था। यद्यपि आगमों में न कहीं ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख है कि स्त्री दृष्टिवाद का अध्ययन नहीं कर सकती थी और न ही ऐसा कोई विधायक सन्दर्भ उपलब्ध होता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि स्त्री दृष्टिवाद का अध्ययन करती थी। किन्तु आगमिक व्याख्याओं में स्पष्ट रूप से दृष्टिवाद का अध्ययन स्त्रियों के लिए निषिद्ध मान लिया गया। भिक्षुणियों के लिए दृष्टिवाद का निषेध करते हुए कहा गया कि स्वभाव की चंचलता एवं बुद्धि-प्रकर्ष में कमी के कारण उसके लिए दृष्टिवाद का अध्ययन निषिद्ध बताया गया है। जब एक ओर यह मान लिया गया कि स्त्री को सर्वोच्च केवलज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, तो यह कहना गलत होगा कि उनमें बुद्धि-प्रकर्ष की कमी है। मुझे ऐसा लगता है कि जब हिन्दू परम्परा में उसी नारी को जो वैदिक ऋचाओं की निर्मात्री थी, वेदों के अध्ययन से वंचित कर दिया गया तो उसी के प्रभाव में आकर उस नारी को जो तीर्थंकर के रूप में अंग और मूल साहित्य का मूलस्रोत थी, दृष्टिवाद के अध्ययन से वंचित कर दिया गया। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि दृष्टिवाद का मुख्य विषय मूलत: दार्शनिक और तार्किक था और ऐसे जटिल विषय के अध्ययन को उनके लिए उपयुक्त न समझकर उनका अध्ययन निषिद्ध कर दिया गया हो। बृहत्कल्पभाष्य और व्यवहारभाष्य की पीठिका में उनके लिए महापरिज्ञा, अरुणोपपात और दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध किया गया है। किन्तु आगे चलकर निशीथ आदि अपराध और प्रायश्चित्त सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन से भी उसे वंचित कर दिया गया। यद्यपि निशीथ आदि के अध्ययन के निषेध करने का मूल कारण यह था कि अपराधों की जानकारी से या तो वह अपराधों की ओर प्रवृत्त हो सकती थी या दण्ड देने का अधिकार पुरुष अपने पास सुरक्षित रखना चाहता था। किन्तु निषेध का यह क्रम आगे बढ़ता ही गया। बारहवीं-तेरहवीं शती के पश्चात् एक युग ऐसा भी आया जब उसमें आगमों के अध्ययन का मात्र अधिकार ही नहीं छीना गया, अपितु उपदेश देने का अधिकार भी समाप्त कर दिया गया। आज भी श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परम्परा के तपागच्छ में भिक्षुणियों को इस अधिकार से वंचित ही रखा गया है। यद्यपि पुनर्जागृति के प्रभाव से आज अधिकांश जैन सम्प्रदायों में साध्वियाँ आगमों के अध्ययन और प्रवचन का कार्य कर रही हैं।

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन काल और आगम युग की अपेक्षा आगमिक व्याख्या युग में किसी सीमा तक नारी के शिक्षा के अधिकार को सीमित किया गया था। तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि नारी-शिक्षा के प्रश्न पर वैदिक और जैन परम्परा में किस प्रकार समानान्तर परिवर्तन होता गया। आगमिक व्याख्या साहित्य के युग में न केवल शिक्षा के क्षेत्र में अपितु धर्मसंघ में और सामाजिक जीवन में भी स्त्री की गरिमा और अधिकार सीमित होते गये। इसका मुख्य कारण तो अपनी सहगामी हिन्दू परम्परा का प्रभाव ही था किन्तु इसके साथ ही अचेलता के अति आग्रह ने भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा अपेक्षाकृत उदार रही किन्तु समय के प्रभाव से वह भी नहीं बच सकी और उसमें भी शिक्षा, समाज और धर्मसाधना के क्षेत्र में आगम युग की अपेक्षा आगमिक व्याख्या युग में नारी के अधिकार सीमित किये गये।

इस प्रकार काल-क्रम में जैन धर्म में भी भारतीय हिन्दू समाज के प्रभाव के कारण नारी को उसके अधिकारों से वंचित किया गया था, फिर भी भिक्षुणी के रूप में उसकी गरिमा को किसी सीमा तक सुरक्षित रखा गया था।

भिक्षुणी-संघ और नारी की गरिमा[७९]

जैन भिक्षुणी-संघ में नारी की गरिमा को किस प्रकार सुरक्षित रखा गया इस सम्बन्ध में यहाँ किंचित् चर्चा कर लेना उपयोगी होगा। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं जैनधर्म के भिक्षुणी-संघ के द्वार बिना किसी भेदभाव के सभी जाति, वर्ण एवं वर्ग की स्त्रियों के लिए खुले हुए थे। जैन भिक्षुणी-संघ में प्रवेश के लिए सामान्य रूप से वे ही स्त्रियाँ अयोग्य मानी जाती थीं, जो बालिका अथवा अतिवृद्ध हों अथवा मूर्ख या पागल हों या किसी संक्रामक और असाध्य रोग से पीड़ित हों अथवा जो इन्द्रियों या अंग से हीन हों, जैसे अंधी, पंगु, लूली आदि। किन्तु स्त्रियों के लिए भिक्षुणी-संघ में प्रवेश उस अवस्था में भी वर्जित था - जब वे गर्भिणी हों अथवा उनकी गोद में अति अल्पवय का दूध पीता हुआ शिशु हो। इसके अतिरिक्त संरक्षक अर्थात् माता-पिता, पति, पुत्र की अनुज्ञा न मिलने पर भी उन्हें संघ में प्रवेश नहीं दिया जाता था। किन्तु सुरक्षा प्रदान करने के लिए विशेष परिस्थितियों में ऐसी स्त्रियों को भी संघ में प्रवेश की अनुमति दे दी जाती थी। निरवायलिकासूत्र के अनुसार सुभद्रा ने अपने पति की आज्ञा के विरुद्ध ही भिक्षुणी संघ में प्रवेश कर लिया था। यद्यपि स्थानांग के अनुसार गर्भिणी स्त्री का भिक्षुणी संघ में प्रवेश वर्जित था, किन्तु उत्तराध्ययननिर्युक्ति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि में ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिनके अनुसार कुछ स्त्रियों ने गर्भवती होने पर भी भिक्षुणी-संघ में दीक्षा ग्रहण कर ली थी। मदनरेखा अपने पति की हत्या कर दिये जाने पर जंगल में भाग गयी और वहीं उसने भिक्षुणी संघ में प्रवेश ले लिया। इसी प्रकार पद्मावती और यशभद्रा ने गर्भवती होते हुए भी भिक्षुणी संघ में प्रवेश ले लिया था और बाद में उन्हें पुत्र प्रसव हुए। वस्तुत: इन अपवाद नियमों के पीछे जैन आचार्यों की मूलदृष्टि यह थी कि नारी और गर्भस्थ शिशु का जीवन सुरक्षित रहे, क्योंकि ऐसी स्थितियों में यदि उन्हें संघ में प्रवेश नहीं दिया जाता है, तो हो सकता था कि उनका शील और जीवन खतरे में पड़ जाय और किसी स्त्री के शील और जीवन को सुरक्षित रखना संघ का सर्वोपरि कर्त्तव्य था। अत: हम कह सकते हैं कि नारी के शील एवं जीवन की सुरक्षा और उसके आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्य रखने हेतु पति की अनुमति के बिना और गर्भवती होने की स्थिति में भी उन्हें जो भिक्षुणी संघ में प्रवेश दे दिया जाता था- यह नारी के प्रति जैन संघ की उदार एवं गरिमापूर्ण दृष्टि ही थी।

सामान्यतया साधना की दृष्टि से भिक्षु-भिक्षुणियों के आहार, भिक्षाचर्या, उपासना आदि से सम्बन्धित नियम समान ही थे, किन्तु स्त्रियों की प्रकृति और सामाजिक स्थिति को देखकर भिक्षुणियों के लिए वस्त्र के सम्बन्ध में कुछ विशेष नियम बनाये गये। उदाहरण के लिए जहाँ भिक्षु सम्पूर्ण वस्त्रों का त्याग कर रह सकता था वहाँ भिक्षुणी के लिए नग्न होना वर्जित मान लिया गया था। मात्र यही नहीं उसकी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उसकी वस्त्र संख्या में भी वृद्धि की गयी थी। जहाँ भिक्षु के लिए अधिकतम तीन वस्त्रों का विधान था वहाँ भिक्षुणी के लिए चार वस्त्रों को रखने का विधान था। आगे चलकर आगमिक व्याख्या साहित्य में न केवल उसके तन ढँकने की व्यवस्था की गयी, बल्कि शील सुरक्षा के लिए उसे ऐसे वस्त्रों को पहनने का निर्देश दिया गया, जिससे उनका शील भंग करने वाले व्यक्ति को सहज ही अवसर उपलब्ध न हो। इसी प्रकार शील सुरक्षा की दृष्टि से भिक्षुणी को अकेले भिक्षार्थ जाना वर्जित कर दिया गया था। भिक्षुणी तीन या उससे अधिक संख्या में भिक्षा के लिए जा सकती थी। साथ में यह भी निर्देश था कि युवा भिक्षुणी वृद्ध भिक्षुणी को साथ लेकर जाए। जहाँ भिक्षु ६ किलोमीटर तक भिक्षा के लिए जा सकता था, वहीं भिक्षुणी के लिए सामान्य परिस्थितियों में भिक्षा के लिए अति दूर जाना निषिद्ध था। इसी प्रकार भिक्षुणियों के लिए सामान्यतया द्वार रहित उपाश्रयों में ठहरना भी वर्जित था। इन सबके पीछे मुख्य उद्देश्य नारी के शील की सुरक्षा थी। क्योंकि शील ही नारी के सम्मान का आधार था। अत: उसकी शील-सुरक्षा हेतु विविध नियमों और अपवादों का सृजन किया गया है।

नारी की शील-सुरक्षा के लिए जैन आचार्यों ने एक ओर ऐसे नियमों का सृजन किया जिनके द्वारा भिक्षुणियों का पुरुषों और भिक्षुओं से सम्पर्क सीमित किया जा सके, ताकि चारित्रिक स्खलन की सम्भावनाएं अल्पतम हों। फलस्वरूप न केवल भिक्षुणियों का भिक्षुओं के साथ ठहरना और विहार करना निषिद्ध माना गया, अपितु ऐसे स्थलों पर भी निवास वर्जित माना गया, जहाँ समीप में ही भिक्षु अथवा गृहस्थ निवास कर रहे हों। भिक्षुओं से बातचीत करना और उनके द्वारा लाकर दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र एवं भिक्षादि को ग्रहण करना भी उनके लिए निषिद्ध ठहराया गया। आपस में एक दूसरे का स्पर्श तो वर्जित था ही, उन्हें आपस में अकेले में बातचीत करने का भी निषेध किया गया था। यदि भिक्षुओं से वार्तालाप आवश्यक भी हो, तो भी अग्र-भिक्षुणी को आगे करके संक्षिप्त वार्तालाप की अनुमति प्रदान की गयी थी। वस्तुत: ये सभी नियम इसलिए बनाये गये थे कि कामवासना जागृत होने एवं चारित्रिक स्खलन के अवसर उप्लब्ध न हों अथवा भिक्षुओं एवं गृहस्थों के आकर्षण एवं वासना की शिकार बनकर भिक्षुणी के शील की सुरक्षा खतरे में न पड़े।

किन्तु दूसरी ओर उनकी सुरक्षा के लिए आपवादिक स्थितियों में उनका भिक्षुओं के सान्निध्य में रहना एवं यात्रा करना विहित भी मान लिया गया था। यहाँ तक कहा गया कि आचार्य, युवा भिक्षु और वृद्धा भिक्षुणियाँ तरुण भिक्षुणियों को अपने संरक्षण में लेकर यात्रा करें। ऐसी यात्राओं में पूरी व्यूह रचना करके यात्रा की जाती थी -सबसे आगे आचार्य एवं वृद्ध भिक्षुगण, उनके पश्चात् युवा भिक्षु, फिर वृद्ध भिक्षुणियां, उनके पश्चात् युवा भिक्षुणियाँ उनके पश्चात् वृद्ध भिक्षुणियां और अन्त में युवा भिक्षु होते थे। निशीथचूर्णि आदि में ऐसे भी उल्लेख हैं कि भिक्षुणियों की शील सुरक्षा के लिए आवश्यक होने पर भिक्षु उन मनुष्यों की भी हिंसा कर सकता था जो उसके शील को भंग करने का प्रयास करते थे। यहाँ तक कि ऐसे अपराध प्रायश्चित्त योग्य भी नहीं माने गये थे। भिक्षुणियों को कुछ अन्य परिस्थितियों में भी इसी दृष्टि से भिक्षुओं के सान्निध्य में निवास करने की भी अनुमति दे दी गयी थी, जैसे -भिक्षु-भिक्षुणी यात्रा करते हुए किसी निर्जन गहन वन में पहुँच गये हों अथवा भिक्षुणियों को नगर में अथवा देवालय में ठहरने के लिए अन्यत्र कोई स्थान उपलब्ध न हो रहा हो अथवा उन पर बलात्कार एवं उनके वस्त्र-पात्रादि के अपहरण की सम्भावना प्रतीत होती हो। इसी प्रकार विक्षिप्त चित्त अथवा अतिरोगी भिक्षु की परिचर्या के लिए यदि कोई भिक्षु उपलब्ध न हो तो भिक्षुणी उसकी परिचर्या कर सकती थी। भिक्षुओं के लिए भी सामान्यतया भिक्षुणी का स्पर्श वर्जित था किन्तु भिक्षुणी के कीचड़ में फँस जाने पर, नाव में चढ़ने या उतरने में कठिनाई अनुभव करने पर अथवा जब उसकी हिंसा अथवा शीलभंग के प्रयत्न किये जा रहे हों तो ऐसी स्थिति में भिक्षु भिक्षुणी का स्पर्श कर उसे सुरक्षा प्रदान कर सकता था। जैन परम्परा में आचार्य कालक की कथा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। भिक्षुणी के शील की सुरक्षा को जैन भिक्षु-संघ का अनिवार्य एवं प्राथमिक कर्त्तव्य माना गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में नारी के शील-सुरक्षा के लिए पर्याप्त सतर्कता रखी गई थी।

मात्र यही नहीं, जैनाचार्यों ने अपनी दण्ड-व्यवस्था और संघ-व्यवस्था में भी नारी की प्रकृति को सम्यक् रूप से समझने का प्रयत्न किया है। पुरुषों के बलात्कार और अत्याचारों से पीड़ित नारी को उन्होंने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुत्कारा नहीं, अपितु उसके समुद्धार का प्रयत्न किया। जैन दण्डव्यवस्था में उन भिक्षुणियों के लिये किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था नहीं की गई थी जो बलात्कार की शिकार होकर गर्भवती हो जाती थीं अपितु उनके और उनके गर्भस्थ बालक के संरक्षण का दायित्व संघ का माना गया था। प्रसवोपरान्त बालक बालिका के बड़ा हो जाने पर वे पुन: भिक्षुणी हो सकती थी। इसी प्रकार वे भिक्षुणियाँ भी जो कभी वासना के आवेग में बहकर चारित्रिक स्खलन की शिकार हो जाती थीं, तिरस्कृत नहीं कर दी जातीं, अपितु उन्हें अपने को सुधारने का अवसर प्रदान किया जाता था। इस तथ्य के समर्थन में यह कहा गया था कि क्या बाढ़ से ग्रस्त नदी पुन: अपने मूल मार्ग पर नहीं आ जाती है ? जैन प्रायश्चित्त व्यवस्था में भी स्त्रियों या भिक्षुणियों के लिए परिहार और पाराञ्चिक (निष्कासन) जैसे कठोर दण्ड वर्जित मान लिये गये थे, क्योंकि इन दण्डों के परिणाम स्वरूप वे निराश्रित होकर वेश्यावृत्ति जैसे अनैतिक कर्मों के लिये बाध्य हो सकती थीं। इस प्रकार जैनाचार्य नारी के प्रति सदैव सजग और उदार रहे हैं।

हम यह पूर्व में ही सूचित कर चुके हैं कि जैनधर्म का भिक्षुणी-संघ उन अनाथ, परित्यक्ता एवं विधवा नारियों के लिए सम्मानपूर्वक जीने के लिए एक मार्ग प्रशस्त करता था और यही कारण है कि प्राचीन काल से लेकर आजतक जैनधर्म अभागी नारियों के लिए आश्रय-स्थल या शरणस्थल बना रहा है। सुश्री हीराबहन बोरदिया ने अपने शोध कार्य के दौरान अनेक साध्वियों का साक्षात्कार लिया और उसमें वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचीं थीं कि वर्तमान में भी अनेक अनाथ, विधवा, परित्यक्ता स्त्रियाँ अथवा वे कन्यायें जो दहेज अथवा कुरूपता के कारण विवाह न कर सकीं, वे सभी जैन भिक्षुणी-संघ में सम्मिलित होकर एक सम्मानपूर्ण स्वावलम्बन का जीवन जी रही हैं। जैन भिक्षुणियों में से अनेक तो आज भी समाज में इतनी सुस्थापित हैं कि उनकी तुलना में मुनि वर्ग का प्रभाव भी कुछ नहीं लगता है।

इस आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि जैनधर्म के विकास और प्रसार में नारी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आज भी जैन समाज में भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की संख्या तीन गुनी से भी अधिक है जो समाज पर उनके व्यापक प्रभाव को द्योतित करती है। वर्तमान युग में भी अनेक ऐसी जैन साध्वियां हुई हैं और हैं जिनका समाज पर अत्यधिक प्रभाव रहा है। जैसे स्थानकवासी परम्परा में पंजाबसिंहनी साध्वी पार्वतीजी जो अपनी विद्वत्ता और प्रभावशीलता के लिये सुविश्रुत थीं। जैनधर्म के कट्टर विरोधी भी उनके तर्कों और बुलंदगी के सामने सहम जाते थे। इसी प्रकार साध्वी यशकुँवरजी जिन्होंने मूक पशुओं की बलि को बन्द कराने में अनेक संघर्ष किये और अपने शौर्य एवं प्रवचनपटुता से अनेक स्थलों पर पशुबलि को समाप्त करवा दिया। उसी क्रम में स्थानकवासी परम्परा में मालव सिंहनी साध्वी श्री रत्नकुँवरजी और महाराष्ट्र गौरव साध्वी श्री उज्ज्वलकुँवरजी के भी नाम लिये जा सकते हैं जिनका समाज पर प्रभाव किसी आचार्य से कम नहीं था। मूर्तिपूजक परम्परा में वर्तमान युग में साध्वी श्री विचक्षण श्री जी, मणिप्रभा श्री जी और साध्वी श्री मृगावतीजी भी ऐसे नाम हैं कि जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही उनकी यशोगाथा को उजागर करते हैं। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में आर्यिका ज्ञानमती जी का भी पर्याप्त प्रभाव है। उनके द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों की सूची से उनकी विद्वत्ता का आभास हो जाता है।

अत: हम यह कह सकते हैं कि जैनधर्म में उसके अतीत से लेकर वर्तमान तक नारी की और विशेष रूप से भिक्षुणियों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जहाँ एक ओर जैनधर्म ने नारी को सम्मानित और गौरवान्वित करते हुए, उसके शील संरक्षण का प्रयास किया और उसके आध्यात्मिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया; वहीं दूसरी ओर ब्राह्मी, सुन्दरी और चन्दना से लेकर आज तक की अनेकानेक सती-साध्वियों ने अपने चरित्रबल तथा संयम साधना से जैनधर्म की ध्वजा को फहराया है।

विभिन्न धर्मों में नारी की स्थिति की तुलना

(१) **हिन्दू धर्म और जैनधर्म** - हिन्दू धर्म में वैदिक युग में नारी की भूमिका धार्मिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी और उसे पुरुष के समकक्ष ही समझा जाता था। स्त्रियों के द्वारा रचित अनेक वेद-ऋचाएं और यज्ञ आदि धार्मिक कर्मकाण्डों में पत्नी की अनिवार्यता, निश्चय ही इस तथ्य की पोषक हैं। मनु का यह उद्घोष कि नार्यस्तु यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता- अर्थात् जहाँ नारीयों की पूजा होती है वहाँ देवता रमण करते हैं, इसी तथ्य को सूचित करता है कि हिन्दूधर्म में प्राचीनकाल से नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, इन सबके अतिरिक्त भी देवी-उपासना के रूप में सरस्वती, लक्ष्मी, महाकाली आदि देवियों की उपासना भी इस तथ्य की सूचक है कि नारी न केवल उपासक है अपितु उपास्य भी है। यद्यपि वैदिक युग से लेकर तंत्र युग के प्रारम्भ तक नारी की महत्ता के अनेक प्रमाण हमें हिन्दूधर्म में मिलते हैं किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी है कि स्मृति युग से ही उसमें क्रमश: नारी के महत्त्व का अवमूल्यन होता गया। स्मृतियों में नारी को पुरुष के अधीन बनाने का उपक्रम प्रारम्भ हो गया था और उनमें यहाँ तक कहा गया कि नारी को बाल्यकाल में पिता के अधीन, युवावस्था में पति के अधीन और वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रह कर ही अपना जीवन जीना होता है। इस प्रकार वह सदैव ही पुरुष के अधीन ही है, कभी भी स्वतन्त्र नहीं है। स्मृति काल में उसे सम्पत्ति के अधिकार से भी वंचित किया गया और सामाजिक जीवन में मात्र उसके दासी या भोग्या स्वरूप पर ही बल दिया गया। पति की सेवा को ही उसका एकमात्र कर्त्तव्य माना गया।

यह विडम्बना ही थी कि अध्ययन के क्षेत्र में भी वेद-ऋचाओं की निर्मात्री नारी को, उन्हीं ऋचाओं के अध्ययन से वंचित कर दिया गया। उसके कार्यक्षेत्र को सन्तान-उत्पादन, सन्तान-पालन, गृहकार्य सम्पादन तथा पति की सेवा तक सीमित करके उसे घर की चारदिवारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कैद कर दिया गया। हिन्दू धर्म में नारी की यह दुर्दशा मुस्लिम आक्रान्ताओं के आगमन के साथ क्रमशः बढ़ती ही गयी। रामचरितमानस के रचयिता युग-कवि तुलसीदास को भी कहना पड़ा कि 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'। हिन्दू धर्म का मध्ययुग का इतिहास इस बात का साक्षी है कि बहुपत्नीप्रथा और सतीप्रथा जैसी क्रूर और नृशंस प्रथाओं ने जन्म लेकर उसमें नारी के महत्त्व और मूल्य को प्रायः समाप्त ही कर दिया था। वर्तमान समाज व्यवस्था में भी हिन्दू धर्म में नारी को पुरुष के समकक्ष गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है यह कहना कठिन है, यद्यपि नारी चेतना का पुनः जागरण हुआ है किन्तु यह भी भय है कि पश्चिम के अन्धानुकरण में वह कहीं गलत दिशा में मोड़ न ले ले।

हिन्दूधर्म में यद्यपि संन्यास की अवधारणा को स्थान मिला हुआ है और प्राचीनकाल से ही हिन्दू संन्यासिनियों के भी उल्लेख मिलने लगते हैं, फिर भी संन्यासिनियों के आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में हिन्दूधर्मग्रन्थ प्रायः मौन ही हैं। हिन्दूधर्म में प्राचीनकाल से लेकर आज तक यत्र-तत्र किन्हीं संन्यासिनियों की उपस्थिति के उल्लेख को छोड़कर संन्यासिनियों का एक सुव्यवस्थित वर्ग बना हो ऐसा नहीं देखा जाता है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म में विधवाओं, परित्यक्ताओं और अविवाहित स्त्रियों के लिए सम्मान पूर्ण जीवन जीने के लिये कोई आश्रयस्थल नहीं बन सका और वे सदैव ही पुरुष के अत्याचारों और प्रताड़नाओं का शिकार बनीं। चाहे सिद्धान्तरूप में स्त्रियों के संदर्भ में हिन्दू धर्म में कुछ आदर्शवादी उद्घोष हमें मिल जाएँ किन्तु व्यावहारिक जीवन में हिन्दू धर्म में स्त्रियाँ उपेक्षा का ही विषय बनी रहीं।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि हिन्दू धर्म की अपेक्षा जैन धर्म में नारी की स्थिति और भूमिका दोनों ही अधिक महत्त्वपूर्ण रहीं। यों तो जैनधर्म हिन्दूधर्म के सहवर्ती धर्म के रूप में ही विकसित हुआ है और इसीलिए प्रत्येक काल में वह हिन्दूधर्म से प्रभावित रहा है। हिन्दूधर्म के नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण और उसके दुष्परिणामों का शिकार वह भी बना है। जिस प्रकार हिन्दूधर्म में वेद-ऋचाओं की रचयिता स्त्री को उनके अध्ययन से वंचित कर दिया गया, उसी प्रकार जैन धर्म में भी स्त्री के लिए न केवल दृष्टिवाद के अध्ययन को अपितु आगमों के अध्ययन को भी वर्जित मान लिया गया, यद्यपि प्राचीन आगम साहित्य में स्त्रियों के अंग-आगम के अध्ययन के उल्लेख एवं निर्देश उपलब्ध हैं। यह सत्य है कि इस सम्बन्ध में जैनधर्म ने हिन्दूधर्म का अनुसरण ही किया। बृहत्तर हिन्दू समाज का एक अंग बने रहने के कारण जैनों के सामाजिक जीवन में स्त्रियों की स्थिति हिन्दूधर्म के समान ही रही है, फिर भी जैनधर्म की सामाजिक व्यवस्था में हिन्दूधर्म की भाँति बहुपत्नीप्रथा इतनी अधिक हावी नहीं हुई कि पुरुष की दृष्टि में स्त्री मात्र भोग्या बनकर रह गयी हो। इसके पीछे जैनधर्म का संन्यासमार्गीय दृष्टिकोण ही प्रमुख रहा है। दूसरे जैनधर्म में प्रारम्भ से लेकर आज तक भिक्षुणीसंघ की जो एक सुदृढ़ व्यवस्था रही है, उसके कारण उसमें नारी विशेषरूप से विधवा, परित्यक्ता और कुमारियाँ पुरुष के अत्याचार और उत्पीड़न का शिकार नहीं बनीं। जैनधर्म का भिक्षुणी- संघ ऐसी नारियों के लिए एक शरण-स्थल रहा और उसने उन्हें सम्मानपूर्ण और स्वावलम्बी जीवन जीना सीखाया। यही कारण था कि उसमें सतीप्रथा जैसी वीभत्स प्रथाएँ भी अपनी जड़ें नहीं जमा सकीं। जैनधर्म में वे स्त्रियाँ जो सामाजिक क्षेत्र में पुरुष के अधीन होकर जीवन जीती थीं भिक्षुणी बनकर पुरुषों के लिए वन्दनीय और मार्गदर्शक बन जाती थीं। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से निश्चय ही हम यह कह सकते हैं कि हिन्दूधर्म की तुलना में जैनधर्म में नारी की स्थिति बहुत कुछ सम्मानपूर्ण रही है।

(२) बौद्धधर्म और जैनधर्म

बौद्धधर्म और जैनधर्म दोनों ही श्रमण परम्परा के धर्म रहे हैं और दोनों में भिक्षुणी संस्था की उपस्थिति रही है, फिर भी नारी के प्रति जैनधर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म का दृष्टिकोण अधिक अनुदार रहा है। प्रथम तो भगवान् बुद्ध भिक्षुणी-संघ की स्थापना के लिए सहमत ही नहीं हुए थे किन्तु जब अपनी क्षीरदायिका मौसी गौतमी और अन्तेवासी आनन्द ने किसी प्रकार अपने प्रभाव का उपयोग करके बुद्ध को सहमत करने का प्रयत्न किया तो बुद्ध ने भिक्षुणी-संघ की स्थापना की स्वीकृति कुछ शर्तों के साथ प्रदान की। जबकि जैनधर्म में महावीर के पूर्व में भी पार्श्व का भिक्षुणी-संघ सुव्यवस्थित ढंग से कार्यरत था और महावीर को भी इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ था। इस प्रकार जैनधर्म का भिक्षुणी-संघ बौद्धधर्म के भिक्षुणी-संघ से पूर्ववर्ती था। पुनः बुद्ध ने भिक्षुणी-संघ की स्थापना के समय ही जिन अष्ट-गुरुधर्मों (अष्ट पुरुष की श्रेष्ठता सम्बन्धी नियमों) के पालन के लिए स्त्रियों को बाध्य किया, वे स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि बुद्ध की दृष्टि नारियों के प्रति अपेक्षाकृत अनुदार थी। इन अष्ट गुरुधर्मों के अनुसार भिक्षुणी संघ प्रत्येक क्षेत्र में भिक्षु-संघ के अधीन था। चिर प्रव्रजिता और वयोवृद्ध भिक्षुणी के लिए सद्यः प्रव्रजित भिक्षु न केवल वन्दनीय था अपितु वह उनका अनुशास्ता भी हो सकता था। भिक्षुणी को उपदेश देने का अधिकार भी नहीं था। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म के समान ही जैनधर्म में भी तो चिरकाल की दीक्षित एवं वयोवृद्ध भिक्षुणी के लिए सद्यः दीक्षित भिक्षु वन्दनीय होता है, किन्तु मेरी दृष्टि में जैनधर्म में यह नियम बौद्धधर्म के प्रभाव अथवा इस देश की पुरुष प्रधान संस्कृति के कारण कालांतर में ही आया होगा। प्राचीनतम आगम आचारांग भिक्षु-भिक्षुणी के नियमों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों के निर्देश तो करता है, किन्तु कहीं यह उल्लेख नहीं करता है कि चिरप्रव्रजित भिक्षुणी सद्यः दीक्षित भिक्षु को वंदन करे। परवर्ती आगम में भी मात्र ज्येष्ठ-कल्प का उल्लेख है।

ज्येष्ठ-कल्प का तात्पर्य है कि कनिष्ठ अपने से प्रव्रज्या में ज्येष्ठ को वंदन करे। यह टीकाकारों की अपनी कल्पना है कि उन्होंने ज्येष्ठ कल्प को पुरुषज्येष्ठ के रूप में व्याख्यायित किया। मूल-आगमों में ऐसी कोई भी व्यवस्था उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर जैनधर्म में स्त्री को पुरुष की अपेक्षा निम्न माना गया हो। आगमों में स्त्री को न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवल मोक्ष का अधिकारी बताया गया, अपितु उसे तीर्थंकर जैसे सर्वोच्च पद की भी अधिकारी घोषित किया गया है। ज्ञाताधर्मकथा में मल्लि का स्त्री तीर्थंकर के रूप में उल्लेख है। अत: हम स्पष्ट रूप से यह कह सकते हैं कि बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म का दृष्टिकोण नारी के प्रति अधिक उदार था। बौद्धधर्म में नारी कभी भी बुद्ध नहीं बन सकती है, किन्तु जैनधर्म में चाहे अपवाद रूप में ही क्यों न हो, स्त्री तीर्थंकर हो सकती है। यद्यपि परवर्ती काल में जैनधर्म की दिगम्बर शाखा में, जो नारी को तीर्थंकरत्व एवं निर्वाण के अधिकार से वंचित किया गया था, वह उसके अचेलता पर अधिक बल देने के कारण हुआ था। चूँकि सामाजिक स्थिति के कारण नारी नग्न नहीं रह सकती थी अत: दिगम्बर परम्परा ने उसे निर्वाण और तीर्थंकरत्व के अयोग्य ही ठहरा दिया। किन्तु यह एक परवर्ती ही घटना है। ईसा की सातवीं शती के पूर्व जैन साहित्य में ऐसे उल्लेख नहीं मिलते हैं।

यद्यपि बौद्धधर्म में भिक्षुणीसंघ अस्तित्व में आया और संघमित्रा जैसी भिक्षुणिओं ने बौद्धधर्म के प्रसार में महत्त्वपूर्ण अवदान भी दिया किन्तु बौद्धधर्म का यह भिक्षुणी-संघ चिरकाल तक अस्तित्व में नहीं रह सका चाहे उसके कारण कुछ भी रहें हों। आज बौद्धधर्म विश्व के एक प्रमुख धर्म के रूप में अपना अस्तित्व रखता है, किन्तु कुछ श्रामणेरियों को छोड़कर बौद्धधर्म में कहीं भी भिक्षुणी-संघ की उपस्थिति नहीं देखी जाती है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना रही है। चाहे इसके मूल में भी बौद्धाचार्यों के मन में बुद्ध का यह भय ही काम कर रहा हो कि भिक्षुणियों की उपस्थिति से संघ चिरकाल तक जीवित नहीं रहेगा। जबकि जैनधर्म में आज भी सुसंगठित भिक्षुणी-संघ उपस्थित है और भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की संख्या तीन गुनी से अधिक है। यह बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म के नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण का परिचायक है।

ईसाईधर्म और जैनधर्म

नारी के सम्बन्ध में ईसाईधर्म और जैनधर्म का दृष्टिकोण बहुत कुछ समान है। तीर्थंकरों की माताओं के समान ईसाईधर्म में यीशू की माता मरियम को भी पूजनीय माना गया है। साथ ही ईसाईधर्म में जैनधर्म की भाँति ही भिक्षुणी-संस्था की उपस्थिति रही है। आज भी ईसाईधर्म में न केवल भिक्षुणी संस्था सुव्यवस्थित रूप में अस्तित्व रखती है अपितु ईसाई भिक्षुणियां (Nuns) अपने ज्ञानदान और सेवाकार्य से समाज में अधिक आदरणीय और महत्त्वपूर्ण बनी हुई हैं। ईसाई धर्म संघ द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थाओं, चिकित्सालयों और सेवाश्रमों में इन भिक्षुणियों की त्याग और सेवा-भावना अनेक व्यक्तियों के मन को मोह लेती है। यदि जैन समाज उनसे कुछ शिक्षा ले तो उसका भिक्षुणी-संघ समाज के लिए अधिक लोकोपयोगी बन सकता है और नारी में निहित समर्पण और सेवा की भावना का सम्यक् उपयोग किया जा सकता है।

जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, निश्चय ही पाश्चात्य ईसाई समाज में नारी की पुरुष से समकक्षता की बात कही जाती है। यह भी सत्य है कि पाश्चात्य देशों में नारी भारतीय नारी की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है और अनेक क्षेत्रों में वह पुरुषों के समकक्ष खड़ी हुई है। किन्तु इन सबका एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि वहाँ का पारिवारिक व सामाजिक जीवन टूटता हुआ दिखाई देता है। बढ़ते हुए तलाक और स्वच्छन्द यौनाचार ऐसे तत्त्व हैं जो ईसाई नारी की गरिमा को खण्डित करते हैं। जहाँ हिन्दूधर्म और जैनधर्म में विवाह सम्बन्ध को आज भी न केवल एक पवित्र सम्बन्ध माना गया है, अपितु एक आजीवन सम्बन्ध के रूप में देखा जाता है, वहाँ ईसाई समाज में आज विवाह यौन-वासनाओं की पूर्ति का माध्यम मात्र ही रह गया है। उसके पीछे रही हुई पवित्रता एवं आजीवन बन्धन की दृष्टि समाप्त हो रही है। यदि ईसाई धर्म अपने समाज को इस दोष से मुक्त कर सके तो सम्भवत: वह नारी की गरिमा प्रदान करने की दृष्टि से विश्व धर्मों में अधिक सार्थक सिद्ध हो सकता है।

४. इस्लामधर्म और जैनधर्म

जहाँ तक इस्लामधर्म और जैनधर्म का सम्बन्ध है सर्वप्रथम हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि दोनों की प्रकृति भिन्न है। इस्लामधर्म में संन्यास की अवधारणा प्राय: अनुपस्थित है और इसलिए उसमें नारी को पुरुष के समकक्ष स्थान मिल पाना सम्भव ही नहीं है। उसमें अक्सर नारी को एक भोग्या के रूप में ही देखा गया है। बहुपत्नी प्रथा का खुला समर्थन भी इस्लाम में नारी की स्थिति को हीन बनाता है। वहाँ न केवल पुरुष को बहुविवाह का अधिकार है अपितु उसे यह भी अधिकार है कि वह चाहे जब मात्र तीन बार तलाक कहकर विवाह-बन्धन को तोड़ सकता है। फलत: उसमें नारी को अत्याचार व उत्पीड़न की शिकार बनाने की सम्भावनाएँ अधिक रही हैं। यह केवल हिन्दूधर्म व जैनधर्म की ही विशेषता है कि उसमें विवाह के बन्धन को आजीवन एक पवित्र बन्धन के रूप में स्वीकार किया जाता है और यह माना जाता है कि यह बन्धन तोड़ा नहीं जा सकता है। यद्यपि इस्लाम में नारी के सम्पत्ति के अधिकार को मान्य किया गया है, किन्तु व्यवहार में कभी भी नारी पुरुष की कैद एवं उत्पीड़न से मुक्त नहीं रह सकी। उसमें स्त्री पुरुष की वासनापूर्ति का साधन मात्र ही बनी रही। भारत में पर्दाप्रथा, सतीप्रथा जैसें कुप्रथाओं के पनपने के लिए इस्लामधर्म ही अधिक जिम्मेदार रहा है।

इस तुलानात्मक विवरण के आधार पर अन्त में हम यह कह सकते हैं कि विभिन्न धर्मों की अपेक्षा जैनधर्म का दृष्टिकोण नारी के प्रति अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक एवं उदार है। यद्यपि इस सत्य को स्वीकर करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है कि समसामयिक परिस्थितियों और सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव से जैनधर्म में भी नारी के मूल्य व महत्त्व का क्रमिक अवमूल्यन हुआ है। किन्तु उसमें उपस्थित भिक्षुणी -संघ ने न केवल नारी को गरिमा प्रदान की, अपितु उसे सामाजिक उत्पीड़न और पुरुष के अत्याचारों से बचाया भी है। यही जैनधर्म की विशेषता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ

१. दव्वाभिलावचिन्धे वेए भावे य इत्थिणिक्खेवो ।
अहिलावे जह सिद्धि भावे वेयम्मि उवउत्तो ।।
-सूत्रकृतांग निर्युक्ति, ५४.

२. अभिधान राजेन्द्रकोष, भाग२, पृ० ६२३.

३. यद्वशात् स्त्रिया: पुरुषं प्रत्यभिलाषो भवति, यथा पित्तवणा मधुरद्रव्यं प्रति स फुंफुमादाहसम: यथा यथा चाल्यते तथा तथा ज्वलति बृंहति च । एवमबलाऽपि यथा यथा संपृश्यते पुरुषेण तथा तथा अस्या अधिकतरोऽभिलाषो जायते, भुज्यमानायां तु छन्नकरीषदाहतुल्योऽभिलाषो: मन्द इत्यर्थ: इति स्त्रीवेदोदय: । - वही, भाग६, पृष्ठ, १४३०

४. संमत्तंतिमसंधयण तियगच्छेओ बि सत्तरि अपुव्वे ।
हासाइछक्कअंतो छसट्ठि अनियट्टिवेयतिगं ।।

५. देखें - कर्मप्रकृतियों का विवरण । - कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा, १८

६. णामं ठवणादविए खेत्ते काले य पज्जणणकम्मे ।
भोगे गुणे य भावे दस ए ए इत्थीणिक्खेवो ।।
-सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा, ५४.

७. तन्दुलवैचारिक, सावचूरि सूत्र, १९ (देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला)

८. वही ।

९. समुद्रवीचीचपलस्वभावा: संध्याभ्रमरेखा व मुहूर्तरागा: ।
स्त्रिय: कृतार्था: पुरुषं निरर्थकं निपीडितालक्तकवद् त्यजन्ति ।
उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० ६५, ऋषभदेवजी केशरीमल संस्था रत्नपुर (रतलाम) १९३३ ई०.

१०. पगइत्ति सभाओ । स्वभावेन च इत्थी अल्पसत्वा भवति ।
- निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ० ५८४, आगरा, १९५७-५८

११. सा य अप्पसत्तत्ताणओ जेण वातेण वत्थमादिणा ।
अप्पेणावि लोभिज्जति, दाणलोभिया य अकज्जं पिकरोति ।।
-वही, भाग ३, पृ० ५८४ ।

१२. आचारांगचूर्णि, पृ०३१५ ।

१३. एवं पि ता वदित्तावि अदुवा कम्मुणा अवकरेंति ।
- सूत्रकृतांग, १/४/२३

१४. दुग्रहियं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतम्
भाव: पर्वतमार्गदुर्गविषम: स्त्रीणां न विज्ञायते ।
-सूत्रकृतांग, १/४/२३, प्र० सेठ छगनलाल, मूँथा बंगलोर १९३०

१५. सुट्ठुवि जियासु सुट्ठुवि पियासु सुट्ठुवि लद्धपरासु ।
अडईसु महिलियासु य वीसंभो नेव कायव्वो ।
उब्भेउ अंगुली सो पुरिसो सयलंमि जीवलोयम्मि ।
कामं तएण नारी जेण न पत्ताइं दुक्खाइं ।।
-वही, विवरण १/४/२३

१६. वही, १/४/२

१७. एए चेव य दोसा पुरिससमाये वि इत्थियाणं पि ।
-सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा, ६१

१८. भगवती आराधना, गाथा, ९८७-८८ व ९९५-९६

१९. वही, गाथा, ९८९-९४

२०. तए णं से कण्हे वासुदेव ण्हाए जाव विभूसिए देवईए देवीए पायवंदाये हब्बमागच्छइ । - अन्तकृद्दशा सूत्र, १८

२१. नो खलु मे कप्पइ अम्मापितीहि जीवंतेही मुण्डे भवित्ता अगारवासाओ अणगारियं पव्वइए-कल्पसूत्र, ९१
(एवं) गब्भत्थो चेव अभिग्गहे गेण्हति णाहं समणे होक्खामि जाव एताणि एत्थ जीवंतित्ति ।
-आवश्यकचूर्णि, प्रथम भाग, पृ० २४२, प्र० ऋषभदेव जी केशरीमल, श्वेताम्बर सं० रतलाम १९२८.

२२. तए णं मल्ली अरहा........केवलनाणदंसणे समुप्पन्ने ।
- ज्ञाताधर्मकथा, ८/१८६

२३. अज्जा वि बंभि-सुन्दरि-राइभई चन्दणा पमुक्खाओ ।
कालतए वि जाओ ताओ य नमामि भावेणं ।।
-ऋषिमण्डलस्तव, २०८

२४. देवीओ चक्केसरी अजिया दुरियारी कालि महाकाली ।
अच्चुय संता जाला सुतारया असोय सिरिवच्छा ।।
पवर वजियं कुसा पण्णत्ती निव्वाणि अच्चुया धरणी ।
वइरोट्टऽच्छुत गंधारि अंब उपमावई सिद्धा ।।
-प्रवचनसारोद्धार, भाग१, पृ० ३७५-७६, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सन् १९२२

२५. तीसे सो वयणं सोच्चा संजयाए सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपडिवाइयो ।।
- उत्तराध्ययन सूत्र, २२/४८
(तथा) दशवैकालिकचूर्णि, पृ० ८७-८८, मणिविजय सीरीज भावनगर ।

२६. भगवं वंभी-सुन्दरीओ पत्थवेति ....इमं व भणितो ।
ण किर हत्थिं विलग्गस्स केवलनाणं उप्पज्जई ।।
-आवश्यकचूर्णि, भाग १ पृ० २११

२७. वंतासी पुरिसो रायं, न सो होई पसंसिओ ।
माहणेणं परिचत्तं धणं आदाउमिच्छसि ।।
- उत्तराध्ययन सूत्र, १४/३८ एवं उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० २३० (ऋषभदेव केशरीमल संस्था रतलाम, सन् १९३३)

२८. भगवती, १२/२ ।

२९. जइ वि परिचित्तसंगो तहा वि परिवडइ ।
महिलासंसग्गीए कोसाभवणूसिय व्व रिसी ।।
-भक्तपरिज्ञा,गा० १२८
(तथा)
तुम एत सोयसि अप्पाणं णवि, तुम एरिसओ चेव होहिसि, उवसामेति लद्धबुद्धी, इच्छामी वेदावच्चंति गतो, पुणोवि आलोवेत्ता विरहति ।।
आवश्यकचूर्णि २, पृ० १८७
ण दुक्करं तोडिय अंबपिंडी, ण दुक्करंणच्चितु सिक्खियाए ।

Jain Education International . For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तं दुक्करं तं च महाणुभागं, ज सो मुणी पमयवणं निविट्ठो ।।
-वही, १, पृ० ५५५

३०. कल्पसूत्र, क्रमशः १९७, १६७, १५७ व १३४, प्राकृत भारती, जयपुर १९७७

३१. चातुर्मास सूची, पृ० ७७ प्र. अ. भा. समग्र जैन चातुर्मास सूची प्रकाशन परिषद्, बम्बई, १९८७ ।

३२. इत्थी पुरिससिद्धा य , तहेव य नपुंसगा ।
सलिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य ।।
-उत्तराध्ययन सूत्र, ३६/५०

३३. ज्ञाताधर्मकथा - मल्लि और द्रौपदी अध्ययन ।

३४. (अ) तथेव हत्थिखंधवरगताए केवलनाणं, सिद्धाए इमामे ओसप्पिणीए पढ्मसिद्धो मरुदेवा । एवं आराहणं प्रतियोगसंगहो कायव्वो ।
-आ० चूर्णि, भाग २, पृ० २१२

द्रष्टव्य, वही, भाग १, पृ० १८१ व ४८८ ।

(ब) अन्तकृद्दशा के वर्ग ५ में १०, वर्ग ७ में १३, वर्ग ८ में १० । इस प्रकार कुल ३३ मुक्त नारियों का उल्लेख प्राप्त होता है ।

३५. (अ) मणुस्सिणीसु मिच्छाइट्ठि सासणसम्माइट्टि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओसंजदासंजदसंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ।। - षट्खण्डागम, १,१, ९२-९३

(ब) एवं विधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जावो ।
ते जंगपुज्जं किर्त्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति ।।
-मूलाचार ४/१९६

३६. लिंग इत्थीणं हवदि भुंजई पिंडं सुएयकालम्मि ।
अज्जिय वि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ।।
णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो ।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उमग्गया सव्वे ।।
- सूत्रप्राभृत, २२,२३

(तथा) सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाणं दीसदे मोक्खो ।
जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं ।।
-शीलप्राभृत, २९

३७. Aspects of Jainology, Vo.. 2; Pt. Bechardas Doshi Commeinoration Vol. page 50-110

३८. इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर दृष्टिकोण के लिए देखिए- अभिधान राजेन्द्रकोष, भाग २, पृ० ६१८-६२१ (तथा) इत्थीसु ण पावया भणिया -सूत्रप्राभृत, पृ० २४-२६

एवं

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे होइ तित्थयरो ।। वही, २३

३९. इस सम्बन्ध में दिगम्बर पक्ष के विस्तृत विवेचन के लिए देखें -जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ३, पृ० ५९६-५९८। एवं श्वेताम्बर पक्ष के लिये देखें-

अभिद्धान राजेन्द्रकोष, भाग २, पृ० ६१८-६२१ ।

४०. इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा के लिए देखें -यापनीय सम्प्रदाय, प्रो० सागरमल जैन ।

४१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २

४२. (क) बृहत्कल्पभाष्य, भाग३, २४११, २४०७, (ख) बृहत्कल्पभाष्य, भाग४, ४३३९ ।

(ग) व्यवहारसूत्र, ५/१-१६ ।

४३. जस्स णं अहं पुत्ता ! रायस्स वा जुवरायस्स वा भारियत्ताए सयमेव दलइस्सामि, तत्थ णं तुमं सुहिया वा दुक्खिया वा भविज्जासि ।
-ज्ञाताधर्मकथा, १६/८५

४४. तए णं सा रेवई गाहावइणी तेहिं गोणमंसेहिं सोल्लेहिं य सुरं च आसाए माणी विहरइ ।
-उवासगदसाओ, पृ०२४४

तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स चोद्स संवंच्छरा वइक्कंता । एवं तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ जाव पोसहसालाए धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जिता णं विहरइ ।
- उवासगदसाओ, २४५

४५. अपुत्रस्य गतिर्नास्ति ।

४६. जइ णं अहं दारगं वा पयायामि तो णं अहं जायं य जाव अणुबुड्ढेमित्ति ।
- ज्ञाताधर्मकथा, १/२/१६.

४७. न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।
एक्को संय पच्चणु होइ दुक्खं, कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ।।
-उत्तराध्ययन १३/२३

४८. ज्ञाताधर्मकथा, अध्ययन ८, सूत्र ३०,३१ ।

४९. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृष्ठ १५२ ।

५०. वही, भाग१, पृष्ठ १४२-१४३ ।

५१. जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, - डॉ जगदीशचन्द्र जैन पृ० २५३-२६६ ।

५२. ज्ञाताधर्मकथा, अध्याय १६, सूत्र ७२-७४ ।

५३. उवासगदसा १, ४८ ।

५४. वही, अभयदेवकृतवृत्ति, पृ० ४३ ।

५५. निशीथचूर्णि, भाग २, ३८१ ।

५६. ज्ञाताधर्मकथा, द्वितीयश्रुतस्कन्ध, प्रथम वर्ग, अध्याय १-५ द्वितीय वर्ग, अध्याय५; तृतीय वर्ग, अध्याय १-५४ ।

५७. वही, प्रथमश्रुतस्कन्ध, अध्याय १६, सूत्र ७२-७४ ।

५८. निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ० २६७ ।

५९. वही, भाग २, पृ० १७३ ।

६०. वही, भाग १, पृ० १२९ ।

६१. वही, भाग ३, पृ० २३४ ।

६२. (अ) वही, भाग २, पृ० ५९-६० ।

(ब) तेंसिं पंच महिलसताइं, ताणि वि अग्गिं पावट्ठाणि ।
- वही, भाग ४, पृ०१४ ।

६३. महानिशीथ, पृ० २९ । देखें, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २७१ ।

६४. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० ३१८ ।

६५. मन्त्रिण्यौ ललितादेवी सौख्यौ अनशन ममतुः ।
-प्रबन्धकोश, पृष्ठ १२९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६६. एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया ।
इत्थीवसंगया बाला, जिणसासणपरम्मुहा ॥
जहा गंडं पिलागं वा, पिरपीलेज्ज मुहुत्तगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ॥
-सूत्रकृतांग, १/३/४/९-१०

६७. उपासकदशा, १,४८ ।

६८. अणंगसेणा पामोक्खाणं अणेगाणं गणियासाहस्सीणं .....। - आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० ३५६ ।

६९. आदिपुराण, पृ० १२५, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९११ ।

७०. अड्ढा जाव ....सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगतं आणा ईसर सेणावच्चं कारेमाणी ....।

७१. देखें, जैन, बौद्ध और गीता का आचार दर्शन, भाग२, डा० सागरमल जैन, पृ० २६८ ।

७२. ....असईजणपोसणया । उपासकदशा, १/५१

७३. साविका जाया अबंभस्स पच्चक्खइ णण्णत्थ रायाभियोगेणं ।
- आवश्यकचूर्णि, भाग१, पृ० ५५४-५५ ।

७४. जैनशिलालेख संग्रह, भाग २, अभिलेख क्रमांक ८ ।

७५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-शान्तिसूरीय वृत्ति, अधिकार२,३० ।

७६. ज्ञाताधर्मकथा, ४/६ ।

७७. तम्हा उ वज्जए इत्थी ......आघाते ण सेवि णिग्गंथे ।
-सूत्रकृतांग १,४,१,११

७८. कप्पइ निग्गंथीणं विइकिट्ठए काले सज्झायं करेत्तए निग्गंथ निस्साए । (तथा) पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे, सट्ठिवास परियाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ आयरिय उवज्झायत्ताए उद्दिसित्ताए ।
- व्यवहारसूत्र, ७, १५, व २० ।

७९. इस समस्त चर्चा के लिए देखें - मेरे निर्देशन में रचित और मेरे द्वारा सम्पादित ग्रन्थ- जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ- डॉ अरुण प्रताप सिंह ।

सती प्रथा और जैनधर्म

'सती' शब्द का अर्थ

'सती' की अवधारणा जैनधर्म और हिन्दूधर्म दोनों में ही पाई जाती है । दोनों में सती शब्द का प्रयोग चरित्रवान स्त्री के लिए होता है[१] । श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन परम्परा में तो आज भी साध्वी/श्रमणी को सती या महासती कहा जाता है । यद्यपि प्रारम्भ में हिन्दू परम्परा में 'सती' का तात्पर्य एक चरित्रवान या शीलवान स्त्री ही था किन्तु आगे चलकर हिन्दू परम्परा में जबसे सती प्रथा का विकास हुआ, तब से यह 'सती' शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। सामान्यतया हिन्दूधर्म में 'सती' शब्द का प्रयोग उस स्त्री के लिए होता है जो अपने पति की चिता में स्वयं को जला देती है[२] । अत: हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि जैनधर्म की 'सती' की अवधारणा हिन्दू परम्परा की सतीप्रथा से पूर्णत: भिन्न है । यद्यपि जैनधर्म में 'सती' एवं 'सतीत्व' को पूर्ण सम्मान प्राप्त है किन्तु उसमें सतीप्रथा का समर्थन नहीं है ।

जैनधर्म में प्रसिद्ध सोलह सतियों के कथानक उपलब्ध हैं और जैनधर्मानुयायी तीर्थंकरों के नाम स्मरण के साथ इनका भी प्रात:काल नाम स्मरण करते हैं -

ब्राह्मी चन्दनबालिका, भगवती राजीमती द्रौपदी ।
कौशल्या च मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा ।।
कुन्ती शीलवती नलस्यदयिता चूला प्रभावत्यपि ।
पद्मावत्यपि सुन्दरी प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मंगलम् ।।[३]

इन सतियों के उल्लेख एवं जीवनवृत्त जैनागमों एवं आगमिक व्याख्या साहित्य तथा प्राचीन जैनकाव्यों एवं पुराणों में मिलते हैं[४]। किन्तु उनके जीवनवृत्तों से ज्ञात होता है कि उनमें से एक भी ऐसी नहीं है जिसने पति की मृत्यु पर उसके साथ चिता में जलकर उसका अनुगमन किया हो, अपितु ये उन वीरांगनाओं के चरित्र हैं जिन्होंने अपने शील रक्षा हेतु कठोर संघर्ष किया और या तो साध्वी जीवन स्वीकार कर भिक्षुणी संघ में प्रविष्ट हो गईं या फिर शीलरक्षा हेतु मृत्युवरण कर लिया । आगमिक व्याख्या साहित्य में दधिवाहन की पत्नी एवं चन्दना की माता धारिणी आदि कुछ ऐसी स्त्रियों के उल्लेख हैं जिन्होंने अपने सतीत्व अर्थात् शील की रक्षा के लिए देहोत्सर्ग कर दिया[५] । अत: जैनधर्म में सती स्त्री वह नहीं जो पति की मृत्यु पर उसकी चिता में जलकर उसका अनुगमन करती है अपितु वह है जो कठिन परिस्थितियों में अपनी शीलरक्षा का प्रयत्न करती है और अपने शील को खण्डित नहीं होने देती है, चाहे इस हेतु उसे देहोत्सर्ग ही क्यों न करना पड़े ।

सती प्रथा के औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न

सतीप्रथा के औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न एक बहुचर्चित और ज्वलन्त प्रश्न के रूप में आज भी उपस्थित है । निश्चित ही यह प्रथा पुरुष-प्रधान संस्कृति का एक अभिशप्त-परिणाम है । यद्यपि इतिहास के कुछ विद्वान इस प्रथा के प्रचलन का कारण मुस्लिमों के आक्रमणों के फलस्वरूप नारी में उत्पन्न असुरक्षा की भावना एवं उसके शील-भंग हेतु बलात्कार की प्रवृत्ति को मानते हैं, किन्तु मेरी दृष्टि में इस प्रथा के बीज और प्रकारान्तर से उसकी उपस्थिति के प्रमाण हमें अति प्राचीनकाल से ही मिलते हैं । सती प्रथा के मुख्यत: दो रूप माने जा सकते हैं, प्रथम रूप जो इस प्रथा का वीभत्स रूप है ; इसमें नारी को उसकी इच्छा के विपरीत पति के शव के साथ मृत्युवरण को विवश किया जाता है । दूसरा रूप वह है जिसमें पति की मृत्यु पर भावुकतावश स्त्री स्वेच्छा से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org